सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता

-नेमीचन्द पाटनी

सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता

लेखक :
नेमीचन्द पाटनी

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५
फोन : ०१४१-५१५५८१, ५१५४५८

प्रथम दो संस्करण : 6,000
(27 मई, 2001 से अद्यतन)
तृतीय संस्करण : 1,000
(13 अप्रैल, 2014)
महावीर जयन्ती

योग : **7,000**

मूल्य : छह रुपये

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने में 2815/- रुपये श्री मगनमल नेमीचन्दजी पाटनी, हस्ते नगेन्द्रजी पाटनी, आगरा द्वारा सधन्यवाद प्राप्त हुये।

मुद्रक :
श्री प्रिन्टर्स
मालवीयनगर इण्डस्ट्रियल एरिया,
जयपुर - 302017

आत्मा को हमेशा ऊर्ध्व रखना, जिसको यथार्थ जिज्ञासा (रुचि) होती है, उसको बिना प्रयास के ही (ऊर्ध्व) हुए बिना नहीं रहता ।।142 ।।

सबको एक ही करना है कि - प्रत्येक क्षण आत्मा को ही ऊर्ध्व रखना, आत्मा को ही ऊर्ध्वता रखनी। जिज्ञासु की भूमिका में भी आत्मा को ही अधिक (ऊर्ध्व) रखने का अभ्यास करना ।।195 ।।

- पू. बहनश्री

प्रकाशकीय

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा श्री नेमीचन्दजी पाटनी की नवीनतम कृति 'सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता' का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

जैनसमाज में जाने/पहचान वयोवृद्ध मनीषी विद्वान श्री नेमीचन्दजी पाटनी जहाँ एक ओर राष्ट्रीयस्तर की बड़ी-बड़ी संस्थाओं के कुशल संचालन में सिद्धहस्त हैं, वहीं आप जिनवाणी का स्वयं रसपान करने और कराने की भावना से भी ओतप्रोत हैं।

ऐसे महान व्यक्तित्व विरले ही देखने को मिलेंगे, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में समर्पित किया है, पाटनीजी उनमें अग्रणी हैं।

जिस उम्र में सारा जगत अपने उद्योग धंधों को आगे बढ़ाने में दिन-रात एक करते देखे जाते हैं, उस उम्र में आदरणीय पाटनीजी पूज्य श्री कानजीस्वामी के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान से प्रभावित होकर उस ज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने हेतु घर-परिवार की ओर से अपना लक्ष्य हटाकर उद्योग-धंधों की परवाह न करके पूज्य श्री कानजीस्वामी के मिशन में सम्मिलित हो गये और अल्प समय में अपने कुशल नेतृत्व द्वारा महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया पाटनीजी की तत्त्वज्ञान के प्रति समर्पण की भावना बढ़ती गई। सन् १९६४ से जब से स्व. सेठ पूरनचन्दजी गोदीका द्वारा जयपुर में श्री टोडरमल स्मारक भवन की नींव रखी गयी – तभी से आप पण्डित टोडरमल ट्रस्ट के महामंत्री हैं। श्री टोडरमल स्मारक भवन का वह वट बीज, जो आज एक महान वट वृक्ष के रूप में पल्लवित हो रहा है, उसमें डॉ. भारिल्ल और गोदीकाजी के सिवाय पाटनीजी का ही सर्वाधिक योगदान है।

प्रस्तुत प्रकाशन के पूर्व आदरणीय पाटनीजी की और भी अनेक पुस्तकें

प्रकाशित हो चुकी हैं; जिनमें 'सुखी होने का उपाय' भाग -१ से ८ तक आठ पुस्तकें आध्यात्मिक तलस्पर्शी ज्ञान के कोश हैं। व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ, शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति, णमो लोए सव्व साहूणं, वस्तु स्वातन्त्र्य, आत्म संबोधनम्, निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व तथा तत्त्वनिर्णय ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है – आपकी अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

यद्यपि हिन्दी भाषा साहित्य के सौन्दर्य की दृष्टि से उक्त पुस्तकें भले खरी न उतरें; परन्तु भावों की दृष्टि से जैनदर्शन के मर्म को समझने/समझाने में ये पुस्तकें पूर्ण समर्थ हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन 'सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता' नामक कृति की विषयवस्तु लेखक ने अपने आत्मनिवेदन में विस्तार से लिखी है, आशा है विज्ञ पाठक विषयवस्तु का अध्ययन कर कृति से लाभ लेंगे।

इन सब पुस्तकों के अध्ययन-मनन-चिन्तन से पाठक नि:सन्देह आत्मानुभूति की प्रक्रिया से सुपरिचित तो होंगे ही; साथ ही श्री पाटनीजी के गहन अध्ययन से भी परिचित होंगे तथा उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से यह प्रेरणा प्राप्त करेंगे कि हम भी उनके समान लौकिक कार्यों को यथासाध्य साधते हुए लोकोत्तर कार्य करें।

इस पुस्तक के कम्पोजिंग कार्य के लिए श्री रमेशचन्द शास्त्री तथा सुन्दर मुद्रण व कलात्मक आवरण के लिए श्री अखिल बंसल धन्यवाद के पात्र हैं। जिन महानुभावों ने पुस्तक के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग प्रदान किया है उनका भी हम हृदय से आभार मानते हैं।

पुस्तक का मर्म समझकर आप सभी सिद्धदशा को प्राप्त हों, इसी भावना के साथ –

– मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर

आद्य निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक का विषय है **''सिद्ध स्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता''**। साधक की परिणति में अपने ज्ञायक सिद्धस्वभावी ध्रुवभाव की ऊर्ध्वता अर्थात् सर्वात्कृष्ट महिमावंतपना, निरन्तर वर्तते रहना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाने के पश्चात् तो ज्ञानी को, श्रद्धा का विषय ऐसा सिद्धस्वभावी ज्ञायक ध्रुवतत्त्व, प्रत्येक परिणमन में ऊर्ध्व–सर्वोत्कृष्ट महिमावन्त, प्रगट वर्तता रहता है; क्योंकि उसने उस रूप ही अपना अस्तित्व मान लिया है – श्रद्धा कर ली है। इसलिये उसको तो सहज रूप से उसका ऊर्ध्वपना निरन्तर वर्तता रहता है; स्मरण – विकल्प अथवा विचार आदि नहीं करना पड़ता।

लेकिन सम्यक्त्वसन्मुख आत्मार्थी को तो सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व, श्रद्धा का मूल आधार जो सिद्ध स्वभावी ज्ञायक ध्रुवभाव है, उसमें अपनापन–अहंपना प्रगट करने के लिये अभ्यास करना पड़ता है। उसके लिये **तीव्र रुचिपूर्वक, ज्ञानी जनों के समागम अथवा जिनवाणी में तद्विषयक अध्ययन द्वारा, यथार्थ दृष्टि से सिद्धस्वभावी ध्रुव का स्वरूप समझकर, उस रूप ही मैं हूँ अर्थात् मेरा अस्तित्व तो सिद्धस्वभावी ध्रुव ही है, ज्ञान में आती हुई पर्यायें आदि ज्ञेयमात्र रूप मेरा अस्तित्व नहीं है; क्योंकि वे सब ध्रुव से अन्य-पर होते हुए भी, अनित्य स्वभावी हैं और मेरा अस्तित्व तो ध्रुव त्रिकाल रहनेवाला है। ''पर्यायों एवं ज्ञेयों के स्वामी तो वे स्वयं ही हैं; मैं तो सिद्ध स्वभावी ध्रुव हूँ'' सर्वप्रथम इसप्रकार का अकाट्य और निःशंक निर्णय करे। ऐसे दृढ़तम निर्णय के साथ, स्वरूप प्राप्ति (ध्रुव में अहंपना प्राप्ति) की तीव्रतम**

रुचि के द्वारा अर्थात् अर्न्तदृष्टिपूर्वक ज्ञेय मात्र के प्रति अहंपने का आकर्षण तोड़कर, सिद्ध स्वभावी ध्रुव में अहंपने की सर्वात्कृष्ट महिमा पूर्वक आकर्षण उत्पन्न करना चाहिये। तत्पश्चात् अन्तर्लक्ष्यी पुरुषार्थ के अभ्यास क्रम में भी सिद्ध स्वभावी ध्रुव ही ऊर्ध्व अर्थात् सर्वोत्कृष्ट महिमावंत बना रहना चाहिये। यह ऊर्ध्वता श्रद्धा का परिणमन है – प्रतीति का विषय है; ज्ञान का नहीं। वह विकल्पादि का विषय भी नहीं होता, तथा विकल्पादि से प्रगट भीनहीं होता, रुचि रहित के चिन्तन-मनन आदि से भी ऊर्ध्वता प्रगट नहीं होती; वह तो यथार्थ समझ द्वारा किये गए दृढ़तम निर्णय के बल से तीव्रतम रुचि(लगन) द्वारा किए गये अन्तर्लक्ष्यी पुरुषार्थ से ही प्रगट होती है। ज्ञान में पर्यायों के अनेक प्रकार के परिणमन आदि अनेक ज्ञेय वर्तते हुए भी, ऊर्ध्वता की प्रगटता के साथ ही वे सब गौण (उपेक्षित) वर्तते रहते हैं। ज्ञान उनसे निरपेक्ष वर्तने लगता है; फलतः वे ज्ञान को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाते। ऐसी अर्न्तपरिणति सहज बढ़ते-बढ़ते क्रमशः ज्ञान निर्विकल्प होकर आत्मानुभूति प्रगट कर लेता है। तत्पश्चात् तो आत्मार्थी भी ज्ञानी हा जाता है। उसके प्रत्येक परिणमन में सहजरूप से 'सिद्ध स्वभावी ध्रुव' ऊर्ध्व वर्तता रहता है। यह है सिद्ध स्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता का फल।

इस पुस्तक में ऐसी दशा प्रगट करने की चर्चा करने का प्रयास किया गया है। इसके पूर्व मेरे द्वारा लिखे हुए 'सुखी होने के उपाय पुस्तकमाला के आठ भाग' प्रकाशित हो चुके हैं एवं 'निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व' भी प्रकाशित हुई है। उनमें अज्ञानी को ज्ञानी बनने के पूर्व, तत्संबंधी पात्रता प्रगट करने के उपायों की चर्चा है।

अत: स्वकल्याण की रुचि पूर्वक क्रमश: किये गये उनके अध्ययन द्वारा पात्रता अन्तर में प्रगट करनी चाहिये; क्योंकि उपरोक्त ऊर्ध्वता, पात्रता के बिना प्रगट नहीं हो सकेगी। **पुस्तकों के अध्ययन मात्र से प्रगट कर लेना असंभव तो नहीं, लेकिन कठिन अवश्य है।** अत: आत्मार्थी को अपनी पात्रता का सम्यक् मूल्यांकन करके तथा अन्तर में पर्याप्त पात्रता प्रगटकर सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा आत्मानुभव प्रगट कर ज्ञानी हो जाना चाहिये। यही सारभूत है।

प्रात: स्मरणीय पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का इस पामर पर तीर्थंकर तुल्य उपकार है, मुझे उन्हीं के पावन समागम एवं उपदेश से यथार्थ दृष्टि प्राप्त हुई; फलस्वरूप जो कुछ प्राप्त हुआ, उसी का नमूना (सेम्पल) यह पुस्तक है। अत: पुस्तक में जो कुछ भी है वह सब उन्हीं का है। मेरी आत्मा उनके उपकार को कभी नहीं भूल सकती। अत: उनके चरणों में शत-शत वंदन।

प्रस्तुत पुस्तक में कुछ विषय ऐसे भी हैं, जिनका आगम के आलोक में प्रमाणित होना आवश्यक था, इसके लिये मैंने आदरणीय डॉक्टर हुकमचंदजी से निवेदन किया; उनने सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर, पुस्तक को आद्योपान्त पढ़कर विशेष प्रामाणित कर दिया, इसके लिये मैं उनका भी हृदय से आभारी हूँ।

इसप्रकार पुस्तक के विषय को सभी आत्मार्थी सत्यार्थ मानकर, नि:शंक श्रद्धापूर्वक अपना कर, स्वकल्याण की भावना से तीव्र रुचि के साथ अन्तर्लक्ष्यी पुरुषार्थ कर, निर्विकल्पता प्राप्त कर, आत्मानुभव प्रगट करें तथा अपना जीवन सफल करें इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

– नेमीचन्द पाटनी

विषय सूची

भेदज्ञान में अस्ति की ऊर्ध्वता	९
सिद्ध बनने की प्रक्रिया, स्वभाव का निर्णय	११
अभेद पर्यायें गौण कैसे होंगी ?	११
पर्यायें गौण रह जाने से शुद्ध कैसे हो जावेगी ?	१२
पर्याय की विकृति का कर्ता कौन ? तथा अभाव कैसे ?	१४
पाँच समवाय पूर्वक ही विकार का उत्पाद एवं विनाश	१६
विकार के अभाव करने में पुरुषार्थ की मुख्यता	१७
विकार श्रृंखला के उत्पादन का मूल कारण	१८
पुरुषार्थ की सम्यत्वता एवं विपरीतता	२०
निमित्त का योगदान कैसे ?	२२
कार्यसम्पन्नता में निमित्त की अनिवार्यता कैसे ?	२५
निमित्त अनिवार्य होते हुए भी योगदान का अभाव	२७
निमित्त से कार्य होने के कथन क्यों ?	२८
विकार में निमित्त कौन व कैसे ?	२९
शुभभाव एवं वीतरागी सुख की पहिचान	३३
श्रृंखला तोड़ने का उपाय भेद-विज्ञान	३७
नयों के प्रयोग द्वारा परज्ञेयों से भेदज्ञान	४०
नयज्ञान मोक्षमार्ग के लिये उपयोगी कैसे ?	४३
पञ्चाध्यायी के नयों के सम्बन्ध में	४५
चारों प्रकार के ज्ञेयों के विषयों का दो में संक्षेपीकरण	४६
ज्ञानी-अज्ञानी सभी को नयज्ञान उपयोगी	४९
उपसंहार	५१

कर इन्द्रियजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को।
निश्चयविषैं स्थित साधुजन, भाषैं जितेन्द्रिय उन्हीं को ॥
समयसार गाथा -३१ (पद्यानुवाद)

卐 सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता 卐

भेदज्ञान में अस्ति की ऊर्ध्वता

जिनवाणी में नास्ति की मुख्यतापूर्वक की गई कथन पद्धति से अज्ञानी को ऐसा लगता है कि परज्ञेयों की नास्ति के निर्णय करने से स्वज्ञेय प्राप्त हो जावेगा, लेकिन वास्तविक स्थिति इससे विपरीत है। अनादि से अज्ञानी को परज्ञेयों का परिचय है और उनमें ही अपनापन है; इसलिये अज्ञानियों को परिचित विषय की असारता-अनित्यता-विपरीतता आदि का ज्ञान कराकर, उनसे आकर्षण छुड़ाने के लिये – जिनवाणी में नास्ति की कथन पद्धति अपनाई गई है। वास्तविकता तो यह है कि अस्ति अर्थात् अपने स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा हुये बिना, किसी प्रकार भी पर से भेदज्ञान होना संभव नहीं है। जैसे असली स्वर्ण के स्वरूप की पहिचान हुये बिना स्वर्ण की मिलावट का ज्ञान कैसे हो सकेगा ? गेहूँ की पहिचान के बिना, उसमें मिले अन्य धान्यों अथवा कंकड़ आदि को अलग कैसे किया जा सकेगा ? नही हो सकेगा।

इसलिए आत्मा के ध्रुव रहनेवाले स्वरूप को पहिचान कर, निर्णय कर, ज्ञान में मुख्य ही नहीं वरन् उसकी सदैव ऊर्ध्वता बनी रहनी चाहिये। ज्ञानी को सहजरूप से ऐसी ऊर्ध्वता सदैव बनी रहती है। तात्पर्य यह है कि अपनी आत्मा का स्वरूप अरहंत के समान त्रिकाल-अकर्ता – ज्ञायक है यह स्वरूप सदैव भेदज्ञान प्रणाली में ऊर्ध्व बने रहना चाहिये। अरिहंत सकल ज्ञेयों के ज्ञायक होते हुये भी तन्मयतापूर्वक ज्ञाता तो स्व के ही हैं; लेकिन ज्ञान स्व-पर प्रकाशक स्वभावी होने से, पर संबंधी ज्ञेयाकार उसमें रहने से उनका भी ज्ञान हो जाता है। इसप्रकार वे (अरिहंत) स्व-पर के ज्ञायक हैं। कर्ता तो स्व की पर्याय

के ही हैं, ज्ञान में पर के ज्ञात होते रहने पर भी सदैव उनके तो अकर्ता ही हैं। फलत: अनन्तसुख को भोगते रहते हैं।

उपरोक्त प्रकार का ही मेरे आत्मा का भी स्वभाव है। स्वभाव तो वही कहलाता है, जो अनादिअनन्त अक्षुण्ण बना रहे; जैसे पानी का ठंडा स्वभाव और अग्नि का ऊष्ण स्वभाव सदैव रहता है, उसीप्रकार मेरा स्वभाव भी अनादि-अनन्त अक्षुण्ण बना रहता है। यह स्वभाव त्रिकाल ध्रुव रहनेवाले अंश में ही रहता है; इसप्रकार मैं भी त्रिकाल सिद्ध स्वभावी हूँ। ध्रुव तो प्रतिसमय के परिणमन में विद्यमान ही रहता है। इसप्रकार सिद्ध स्वभाव प्रत्येक पर्याय में विद्यमान रहता है। ऐसा होते हुए भी उसका लाभ मुझे नहीं मिल पाता। कारण वेदन (अनुभव) तो पर्याय का होता है और पर्याय एवं ध्रुव अभेद हैं, दोनों का सत् एक है। इसलिये मुझे ध्रुव का लाभ प्राप्त नहीं हो पाता।

पूर्वभवों में अरिहंत भगवान की पर्याय भी मेरे समान अशुद्ध थी, लेकिन उनने अपने शुद्धस्वभाव का नि:शंक निर्णय कर विश्वास किया तथा उस रूप ही अपना अस्तित्व मानकर श्रद्धा की। फलस्वरूप परिणमन के समय भी ज्ञायक स्वभाव उनको सदैव स्व के रूप में ऊर्ध्व बना रहता था। ऐसी श्रद्धा से ज्ञानी छद्मस्थ को भी ध्रुवस्वभाव ऊर्ध्व रहते हुये सहजरूप से विकृत पर्यायें पर रूप में, उपेक्षित अर्थात् गौण रह जाती हैं। पर्यायों के प्रति अपनापन समाप्त हो जाने से, परिणति–उपयोग को वे अपनी ओर आकृष्ट करने में असमर्थ रहती हैं। इस प्रकार स्व में आकर्षण बढ़ता जाता है। प्रति समय पर्यायें ज्ञान में ज्ञात होने पर भी, उनको स्वपने का पोषण नहीं मिलने से विकृति भी क्रमश: नष्ट होकर अन्त में वे भी पूर्ण शुद्ध होकर ध्रुव के समान हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि हमको भी सिद्ध बनने के लिये उपरोक्त प्रकार की पद्धति ही अपनानी पड़ेगी, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

सिद्ध बनने की प्रक्रिया, स्वभाव का निर्णय

सिद्ध बनने का मार्ग तो सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ होता है, कहा भी है – **'दंसणमूलोधम्मो'**

सम्यग्दर्शन अर्थात् अपने स्वरूप की सम्यक् श्रद्धा। यथार्थ रुचिपूर्वक नि:शंक निर्णय के बिना सम्यक् श्रद्धा का जन्म नहीं होता और नि:शंक निर्णय अपना स्वरूप यथार्थ समझे बिना नहीं होता। इसलिये आत्मा का स्वरूप 'सिद्ध जैसा ही है' – सर्वप्रथम ऐसा समझकर, यथार्थ रुचि के साथ नि:शंक निर्णय करने पर ही सम्यक् श्रद्धा जाग्रत होगी। प्रथम तो मुझे विश्वास जाग्रत होना चाहिये कि मेरे ध्रुव में ही सिद्धपना विद्यमान है, वही मेरा स्वभाव है। पुरुषार्थ तो मात्र इतना ही करना है कि मेरी पर्याय भी ध्रुव के समान परिणमने लग जावे। ऐसा विश्वास जाग्रत होते ही, रुचि-आकर्षण/पुरुषार्थ सब का केन्द्रबिन्दु, पर्याय से हटकर एक ध्रुव स्वभाव पर ही केन्द्रित हो जावेगा; वास्तव में अरिहंत एवं सिद्ध बनने की प्रक्रिया का पुरुषार्थ यही है। इस पुरुषार्थ से पर्यायों के प्रति परपना आ जाने से, उनमें स्वपने की मान्यता टूट जावेगी और क्रमश: प्रेम-आकर्षण भी क्षीण होना प्रारंभ हो जावेगा। अर्थात् पर्याय का चारित्र अपेक्षा भी क्रमश: शुद्ध होना प्रारंभ हो जावेगा। इसकी चरमदशा अरिहंत एवं सिद्ध दशा है। आत्मार्थी को ऐसे पुरुषार्थ में अपना ध्रुव स्वभाव सदैव ऊर्ध्व बना रहता है और बना भी रहना चाहिये। फलस्वरूप पर्यायों के प्रति स्वपने का आकर्षण नहीं रहने से गौणता बनी रहती है। यह है अस्ति की ऊर्ध्वता रहने का फल।

अभेद पर्यायें, गौण कैसे होंगी ?

प्रश्न – पर्यायें द्रव्य में अभेद रहती हैं और ज्ञान में ज्ञात हुए बिना भी नहीं रहतीं ? अत: उपरोक्त निर्णय से वे गौण कैसे रह सकेंगी?

उत्तर – इसमें निर्णय ही महत्त्वपूर्ण नहीं है। निर्णय के साथ, रुचि की उग्रता एवं सिद्ध स्वभावीध्रुव की ऊर्ध्वता दोनों का पृष्टबल महत्त्वपूर्ण है। ध्रुव की श्रद्धा से पर्यायें उपेक्षित हो जाती है, फलस्वरूप अनुभव के समय वे ज्ञान में गौण रह जाती हैं। यही वास्तविक पुरुषार्थ है।

ऊर्ध्वता का तात्पर्य है कि ज्ञान में जितने भी ज्ञेय ज्ञात होते हों, उनमें निजरूप अकेले स्वज्ञेय का ज्ञात होना, यही ऊर्ध्वता है अर्थात् श्रद्धा में-ज्ञायक-अकर्ता-ध्रुव स्वभाव सदैव जाग्रत रहना ही ऊर्ध्वता है। ऐसी श्रद्धा में निर्मल पर्यायों का तो मैं कर्ता भी हूँ एवं ज्ञायक भी हूँ; लेकिन विकारी पर्यायों सहित समस्त परज्ञेयों का तो मैं अकर्ता रहते हुए मात्र निरपेक्ष ज्ञायक ही हूँ; फलत: ज्ञान में ज्ञात होते हुए भी वे सब स्वत: गौण रह जाते हैं। उपरोक्त श्रद्धा (निर्णय-विश्वास) के द्वारा आत्मार्थी मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी को क्रमश: क्षीण करता जाता है। फलस्वरूप ऊर्ध्वता भी बलिष्ठ होती जाती है। परज्ञेयों का आकर्षण भी क्रमश: टूटता जाता है। अन्तत: जब मात्र स्वज्ञेय ही ज्ञान में रह जाता है, द्वैत का अभाव हो जाता है, उस समय उपयोग निर्विकल्प होकर आत्मानुभव कर, कृतकृत्य हो जाता है।

यही अपने ज्ञायकस्वभाव की ऊर्ध्वता अर्थात् अपनापन बने रहने का महान लाभ है।

पर्यायें गौण रह जाने से शुद्ध कैसे हो जावेंगी?

प्रश्न – पर्यायें गौण रह जाने से शुद्ध कैसे हो सकेंगी ?

उत्तर – उपरोक्त पद्धति से तो नि:शंक निर्णय के द्वारा आत्मार्थी ने विश्वास जाग्रत किया है कि मेरा अस्तित्व सिद्धस्वभावीध्रुव है।

ध्रुव में पर्यायों की नास्ति है और पर्यायों में ध्रुव की नास्ति है। द्रव्य के प्रदेशों में रहनेवाला ध्रुवांश तो त्रिकाली सत् है और पर्यायें मात्र एक समयवर्ती सत् हैं। इसलिये मैं तो ज्ञायक अकर्ता बने रहनेवाला त्रिकाली सत् हूँ; पर्याय रूप नहीं। लेकिन ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक होने से उसमें स्वज्ञेय तो ज्ञायकध्रुव है तब पर्यायें तो अन्य के साथ सब परज्ञेय ही रहेंगी। मेरे प्रदेशों में उत्पन्न होने वाली पर्यायें भी प्रयोजन सिद्धी के लिये तो पर हैं। प्रमाण की दृष्टि से तो पर्याय को भी अपना मानना व कहना यथार्थ है, लेकिन प्रयोजन सिद्ध करने हेतु तो अपनी पर्याय को भी पर मानना ही समीचीन मार्ग है।

हमारा ज्ञान क्षायोपशमिक है एवं मोह (मिथ्यात्व, रागादि) भी विद्यमान हैं। क्षयोपशम ज्ञान ध्रुव और पर्याय दोनों को एक साथ जानते हुए भी, उपयोगात्मक एक समय एक को ही जान सकता है। लेकिन श्रद्धा तो मात्र एक को ही अपना मानती है। श्रद्धा भी ज्ञान के साथ ही उत्पन्न होती है। अनादि से श्रद्धा की पर को स्व मानते रहने की श्रृंखला चलती आ रही है; फलतः ज्ञान भी उत्पन्न होते ही पर को स्व जानता हुआ उत्पन्न होता है और श्रद्धा उसी को स्व मान लेती है। ऐसी श्रृंखला के कारण अनादि से जीव मिथ्यात्वी बना हुआ है। तात्पर्य यह है कि जब तक ज्ञान परसत्ताबलम्बी बना रहेगा, यह श्रृंखला टूट नहीं सकती। ज्ञान का परलक्ष्यीपना तब टूट सकता है, जब श्रद्धा पर में अपनापनां छोड़कर, स्व (ध्रुव-ज्ञायक) को स्व मानना प्रारम्भ करे। सत्यार्थ समझ द्वारा, उग्ररुचि के साथ स्वरूप का निःशंक निर्णय करके ज्ञायक में अपनेपन का विश्वास होने पर ही ज्ञान स्वलक्ष्यी होकर निर्विकल्प आत्मानुभूति करेगा, तब सम्यक् श्रद्धा का जन्म होगा। तत्पश्चात् सहजरूप से उसका ज्ञान सदैव अपने को ध्रुव-ज्ञायक-अकर्ता जानते हुये, पर्याय आदि को पर के रूप में जानते रहेगा। ज्ञेयमात्र श्रद्धा में पर होने से ज्ञान में भी वे गौण वर्तते रहेंगे। इसतरह सहजरूप

से ध्रुव उनके श्रद्धा-ज्ञान में सदैव ऊर्ध्व वर्तता रहेगा, करना नहीं पड़ेगा। लेकिन सम्यक्त्वसन्मुख आत्मार्थी की तो पर्याय में विपरीतता है। उसका ध्येय एवं रुचि वर्तमान पर्याय का अभाव करके सिद्ध बनने की होती है।

अत: उसको तो सिद्धस्वभावीध्रुव में अपनेपने का आकर्षण बढ़ाना तथा अनित्यस्वभावी-विकारी एवं अधूरी पर्याय के प्रति अपनेपने की मान्यता तोड़ना, अत्यन्त प्रयोजनभूत एवं अनिवार्य है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये सिद्धस्वभावी-ध्रुव में अहंपने का आकर्षण उत्पन्न कर तथा अपनी पर्यायों में परपने-हेयपनें के निर्णय द्वारा स्वपने का आकर्षण समाप्त कर, रुचिपूर्वक दोनों के स्वरूपों के यथार्थ निर्णय द्वारा उक्त विश्वास जाग्रत करना चाहिये। उक्त प्रकार के पुरुषार्थ द्वारा ध्रुव की ऊर्ध्वता बने रहने को प्रोत्साहन मिलेगा, रुचि की उग्रता बढ़ेगी तथा मिथ्यात्व-अनंतानुबंधी की आंशिक क्षीणता बढ़ती जावेगी और क्रमश: ज्ञान भी स्व-सत्तावलम्बी होने की ओर अग्रसर होता रहेगा। वह ज्ञान बढ़ते-बढ़ते निर्विकल्प हो जावेगा और सम्यक् श्रद्धा का जन्म हो जावेगा। एकमात्र यह मार्ग ही नि:श्रेयस प्राप्त करने का समीचीन मार्ग है।

पर्याय की विकृति का कर्ता कौन ? तथा अभाव कैसे ?

प्रश्न – मार्ग तो उपरोक्त ही सत्यार्थ है; लेकिन पर्यायों में विकृति तो है, इसका कर्ता किसको माना जावे ?

उत्तर – भाई ! पर्याय में विकृति है, यह तो जिनवाणी भी बताती है और हमारे अनुभव में भी है। और उपर्युक्त पुरुषार्थ भी उन ही जीवों को कार्यकारी होगा, जिन्होंने समझ कर यह स्वीकार कर लिया होगा कि विकार मेरे में विद्यमान हैं तथा उनको करनेवाला (कर्ता)

भी मैं ही हूँ; अन्य कोई नहीं। ऐसा निर्णय करने के पश्चात् ही वह आत्मार्थी विकारों का अभाव करने के लिए, अपने द्रव्य का विश्लेषण करेगा। भेदज्ञान प्रणाली द्वारा ध्रुवस्वभाव एवं पर्यायस्वभाव की भिन्नता का निर्णय करेगा कि **मेरा अस्तित्व तो अनादिअनन्त ध्रुव रहता है; अत: सिद्धस्वभावीध्रुव ही मैं हूँ। न तो मेरे ध्रुवस्वभाव में विकार है और न वह विकार का उत्पादन ही कर सकता है।** लेकिन फिर भी द्रव्य में विकृति विद्यमान है; अत: स्पष्ट है कि विकार का कर्ता मैं नहीं वरन् पर्यायांश ही है।

मैं तो अकर्ता-ज्ञायक स्वभावी ध्रुव हूँ, अत: मैं तो विकार का कर्ता किसी अपेक्षा भी नहीं हूँ। इसप्रकार के रुचिपूर्वक किये गये नि:शंक और अकाट्य निर्णय एवं विश्वास के आधार पर आत्मार्थी विकार का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करता। फलस्वरूप उसका ज्ञान स्वलक्ष्यी कार्यरत हो जाता है और श्रद्धा भी ध्रुव को ही अपना मानने के लिये बाध्य हो जाती है; इसप्रकार की परिणति वर्तने से, विकारों को रक्षण-पोषण मिलना क्षीण होता जाता है, अन्तत: विकार भी नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न – जब द्रव्य में विकार है ही नहीं। फिर पर्याय विकारी कैसे उत्पन्न होती है ? पर्याय भी तो द्रव्य का ही अंश है

उत्तर – आत्मार्थी बन्धु ! यह तो पूर्व में निर्णय करते आये हैं कि पर्याय भी एक समयवर्ती सत् है। सत् का अस्तित्व तो निरपेक्ष रहता है। द्रव्य का स्वभाव ही अद्भुत-आश्चर्यकारी है कि उसका ध्रुवांश तो त्रिकाली सत् है एवं उसी का पर्यायांश एक समयवर्ती सत् है। इसलिये पर्याय ध्रुव से निरपेक्ष रहकर ही उत्पन्न होती है। पर्याय स्वयं अनित्यस्वभावी होने से निरपेक्ष रहकर ही प्रति समय उत्पन्न

होती है। इसप्रकार स्वयं पर्याय की – पर्यायगत योग्यता ही विकार का उत्पादक कारण (कर्ता) है।

पाँच समवायपूर्वक ही विकार का उत्पाद एवं विनाश

प्रश्न – ऐसा होने से तो नियतिवाद आ जावेगा ? मोक्षमार्ग एवं उसके पुरुषार्थ का ही लोप हो जावेगा ?

उत्तर – कथन पूरा होने के पूर्व ही तुम्हारा प्रश्न आ गया। भले प्रकार समझकर पूर्व में यह निर्णयकर चुके हैं और आगम का सिद्धान्त भी है कि जब भी किसी द्रव्य में कोई कार्य (पर्याय) सम्पन्न होता है, उस समय सहजरूप से पाँच स्थितियाँ बिना मिलाये (प्रयास किये) स्वाभाविक रूप से मिलती ही मिलती हैं, जिनको पाँच समवाय के नाम से भी जाना जाता है। उन पाँच समवायों में एक नियति (होनहार-जो कार्य बनना है वही बनेगा) नाम का समवाय भी है; लेकिन वह अन्य चार समवायों की सापेक्षता सहित ही होता है, अकेला कार्य का नियामक नहीं होता।

उनमें स्वभाव तो त्रिकाली उपादान का सूचक है अर्थात् जीव में ही विकार होगा, पुद्गल में तथा अन्य जीव में नहीं। काललब्धि, नियति व पुरुषार्थ – ये तीनों क्षणिक उपादान हैं अर्थात् जिस पर्याय में विकार हुआ है, मात्र उस समयवर्ती पर्याय के ही तीनों प्रकार हैं। यथा जिस समय विकार उत्पन्न हुआ, उस काल की प्राप्ति वह काललब्धि है; नियति तो उपरोक्त प्रकार से कही गई पर्यायगत योग्यता है एवं पुरुषार्थ भी तत्समयवर्ती पर्याय में कार्य सम्पन्न होने योग्य वीर्य का उत्थान है।

इसप्रकार उपरोक्त चारों समवाय तो अकेले जीवद्रव्य में ही होते हैं। लेकिन पाँचवाँ निमित्त नाम का समवाय तो परद्रव्य की पर्याय होती है। वह पर्याय (निमित्त की पर्याय) अपनी पर्यायगत योग्यता से तत्समय कार्य के अनुकूल परिणमती हुई होती है। कार्य की सम्पन्नता के समय उपरोक्त पाँचों समवाय मिलते ही मिलते हैं, मिलाने नहीं पड़ते तथा मिलाने से मिलते भी नहीं; क्योंकि समय इतना छोटा काल है कि वह मिलाने योग्य बुद्धिगम्य हो ही नहीं सकता।

विश्व के अनन्तद्रव्यों में कार्य (पर्याय) तो प्रतिसमय होता ही रहता है और प्रत्येक के कार्य में पाँच समवाय प्रतिसमय मिलते ही रहते हैं; यह तो विश्व की अकृत व्यवस्था है। **इसप्रकार विकार का उत्पाद, मात्र पर्यायगत योग्यता का परिणमन का ही कार्य नहीं है, अपितु पाँचों समवाय पूर्वक ही विकार का जन्म होता है।**

इसका संक्षेपीकरण करके समझें तो चार समवाय तो जीवद्रव्य में होते हैं और एक निमित्त नाम का समवाय, जीव से इतर, अन्य द्रव्य में ही होता है। इस विषय को विशेष समझना हो तो, लेखक की 'वस्तुस्वातंत्र्य' नाम की पुस्तिका का अध्ययन करना चाहिये।

विकार के अभाव में पुरुषार्थ की मुख्यता

प्रश्न – उपरोक्त स्थिति में विकार के अभाव का पुरुषार्थ कैसे बन सकेगा ?

उत्तर – उपरोक्त चर्चा से यह तो स्पष्ट होकर सिद्ध हो गया कि मैं तो त्रिकाल-ज्ञायक-अकर्ता स्वभावी ध्रुव हूँ, न तो किसी प्रकार भी विकार का उत्पादक हूँ और न कर्ता भोक्ता आदि हूँ।

विकार पर्याय में विद्यमान है अतः वही उसकी कर्ता-भोक्ता आदि हो सकती है। ध्रुव तो सिद्धस्वभावीध्रुव है, वह विकार का कर्ता नहीं है।

अब रहा विकार के अभाव के पुरुषार्थ का कार्य; सो हे भव्य! जरा विचार तो कर और समझ कि विकार तो अनित्य स्वभावी पर्याय में हुआ है, उसका जीवन ही मात्र एक समय का है, बिना कोई प्रकार के प्रयास (पुरुषार्थ) के उसका नाश होना तो अवश्यम्भावी है; ऐसी अनित्यस्वभावीपर्याय में उत्पन्न होनेवाले विकार के नाश का प्रयास तो निष्फल ही रहेगा। यथा वर्तमान में उत्पन्न होनेवाले विकार का अस्तित्व न तो पूर्व पर्याय में था और न भविष्य की पर्याय में ही रहेगा तथा द्रव्य में भी उसका अस्तित्व नहीं है और न अनन्तगुणों में से किसी गुण में है और न द्रव्य के ध्रुवांश में है। अनन्तगुणों का पिण्ड जो द्रव्य है, उनमें से कोई एक भी गुण ऐसा नहीं है, जिसमें विकार उत्पन्न करने की सामर्थ्य भी हो। इतने पर भी उस विकार के अभाव करने के लिये असंख्य समय तो चाहिये लेकिन अभाव करने के पहले ही वह तो व्यय हो जावेगा। अतः विकार जो उत्पन्न हो गया हो उसका नाश करना तो असंभव है। वह तो परज्ञेय के रूप में ज्ञात होने योग्य तो है, नाश तो उसका स्वयं ही होता है।

तात्पर्य यह है कि विकार के नाश करने की चिन्ता छोड़कर, विकार उत्पादन की श्रृंखला के मूल का नाश करना ही समीचीन पुरुषार्थ है।

श्रृंखला के उत्पादन का मूल कारण

प्रश्न – वह पुरुषार्थ क्या है ?

उत्तर – विकार उत्पादन की श्रृंखला का कारण मिथ्या मान्यता

है अर्थात् अपने ज्ञायकअकर्ता ध्रुवस्वभाव को स्व नहीं मानकर, **पर को अपना मानने की श्रद्धा ही, विकार की श्रृंखला का मूल उत्पादक है।**

प्रश्न – इस विषय को विशेष स्पष्ट करके समझाइये ?

उत्तर – मिथ्या मान्यता का अभाव करके सम्यक् मान्यता अर्थात् सम्यक्श्रद्धा उत्पन्न करने के उपायों पर तो चर्चा की जा चुकी है। अभी तो मिथ्याश्रद्धा की श्रृंखला किसप्रकार चलती है एवं उसके स्थान पर किस प्रकार से सम्यक्श्रद्धा की श्रृंखला प्रारम्भ हो; इस विषय पर संक्षेप से चर्चा करेंगे।

मिथ्या श्रद्धा की श्रृंखला अनादि से चलती आ रही होने पर भी उसका उत्पादक कारण ही, श्रृंखला के चलत रहने का भी कारण है।

प्रस्तुत प्रकरण में मिथ्या श्रद्धा को ही हम विकार के नाम से सम्बोधित करेंगे। यह विकाररूपी कार्य आत्मा की पर्याय में ही पाँच समवाय पूर्वक होता है। पाँच समवायों में स्वभाव नामक त्रिकाली उपादान तो विकार का उत्पादन कर नहीं सकता, क्योंकि वह त्रिकाल एक सरीखा रहता है और निमित्त नाम का समवाय तो परद्रव्य है, अत: वह भी आत्मा के विकार का उत्पादन कर ही नहीं सकता। **फलित यह होता है कि नियति, काललब्धि एवं पुरुषार्थयुक्त एक समयवर्ती पर्याय ही विकार उत्पत्ति का क्षणिक उपादान कारण है; और वही उत्पत्ति का स्थान भी है।** जब हम इन तीनों का भी विश्लेषण करें तो उनमें भी नियति और काललब्धि में तो मिथ्यापना अथवा सम्यक्पना हो ही नहीं सकता, वह तो मात्र पर्याय के उत्पादन काल से संबंध रखता है विकार के उत्पादन से नहीं।

इसप्रकार पाँचों समवायों में से एक पुरुषार्थ नाम का समवाय ही है, जो मिथ्या भी हो सकता है अथवा सम्यक् भी हो सकता है। इसप्रकार आत्मा मैं एक पुरुषार्थ नाम का समवाय ही विकार की उत्पत्ति एवं श्रृंखला बनानेवाला है। संक्षेपीकरण के लिये कहा जावे तो, चार समवाययुक्त आत्मा की पर्याय को तो उपादान कारण एवं निमित्त नामक समवाय को – जो कि परद्रव्य की पर्याय है, उसको निमित्त कारण के नाम से कहा जाता है।

पुरुषार्थ के सम्बन्ध में अनेक परिभाषाएँ प्रचलित है। लेकिन प्रस्तुत प्रकरण में उन परिभाषाओं के अनुसार पुरुषार्थ को नहीं समझना। **यहाँ तो अनन्तगुणों की अभेद अखण्ड पर्याय के उत्पादन में जो आत्मा के वीर्य का स्फुरण (उत्थान) होता है, वह पुरुषार्थ है।** पुरुष अर्थात् आत्मा, उसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन (कार्य की सम्पन्नता) को ही पुरुषार्थ माना है। ऐसे इस पुरुषार्थ में विपरीतता किसप्रकार एवं सम्यक्ता किसप्रकार होती है। वह समझना है।

पुरुषार्थ की सम्यक्त्वता एवं विपरीतता

आत्मा के अनन्त गुणों में एक वीर्य (पुरुषार्थ) नाम का गुण भी है। समयसार के परिशिष्ट की ४७ शक्तियों में उसका कार्य बताया है "**स्वरूप की रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति।**" तात्पर्य है कि आत्मा तो अनन्त शक्तियों (गुणों) का अखण्ड अभेद पिण्ड है। ऐसा होने पर भी एक गुण का रूप (सामर्थ्य) अन्य गुणों में अभेद रूप से रहता है अर्थात् पूरा द्रव्य ही अनन्त सामर्थ्यों से सामर्थ्यवान रहता है (इस विषय पर पूज्य श्री कानजीस्वामी ने विस्तार से स्पष्टीकरण किये

हैं, उससे समझ लेना चाहिये।) ऐसे अभेद द्रव्य का परिणमन (पर्याय) भी अभेद एक ही होता है, फलतः एक समय की पर्याय में अनन्तगुणों का सामर्थ्य रहता है। इसप्रकार जब आत्मा ने सम्यक् श्रद्धा की अर्थात् अपना अस्तित्व सिद्धस्वभावी माना, तब अनन्तगुणों का परिणमन भी सम्यक् रूप होकर, स्वसन्मुख परिणमने लग जाता है। द्रव्य के ऐसे कार्य होने में (स्वरूप रचना में) बलाधान प्रदान करने का कार्य वीर्यशक्ति (पुरुषार्थ) का है; यही है स्वरूप रचना की सामर्थ्य, जिसका रूप अनन्तगुणों को बलाधान प्रदान करता है।

अनन्तगुणों में ज्ञानगुण भी है, उसका स्वभाव ही स्व-पर प्रकाशक है; ज्ञान के प्रत्येक परिणमन में स्वसम्बन्धी ज्ञेयाकार एवं परसम्बन्धी ज्ञेयाकार वर्तते हैं, अर्थात् ज्ञान ही स्व के आकार एवं पर के आकार होकर परिणमता रहता है। तत्समय ही श्रद्धा ने जिसको स्व माना हो, ज्ञान का उपयोगात्मक परिणमन भी उस ओर ही झुकता हुआ (एकत्व करता हुआ) उत्पन्न होता है। उसप्रकार के झुकाव में अनन्तगुणों का भी झुकाव रहता है; जिसको जिनवाणी में ''सर्वगुणांश सो सम्यक्त्व'' कहा है। आत्मा के इसप्रकार के कार्य में जो बलाधान प्रदान करता है, वह वीर्यशक्ति (पुरुषार्थ) का कार्य है।

इसप्रकार जिस आत्मा ने सिद्धस्वभावी ज्ञायकरूप अपने को माना होगा तो ज्ञान सहित अनन्तगुणों का परिणमन भी स्वज्ञेयाकारों की ओर झुकता हुआ (एकत्व करता हुआ) उत्पन्न होगा। फलस्वरूप अभेद-अखण्ड सम्पूर्ण आत्मा का ही सम्यक् रूप परिणमन प्रारम्भ हो जावेगा अर्थात् आत्मा ही मोक्षमार्गी हो जावेगा। उपरोक्त प्रकार का पुरुषार्थ ही सम्यक् पुरुषार्थ है।

इसके विपरीत जिस आत्मा ने अपने आपको पररूप ही

मान रखा हो अर्थात् शरीर है सो ही मैं हूँ तथा भावकर्म रूप में ही हो गया आदिरूप मान रखा हो; मिथ्याश्रद्धा की ऐसी श्रृंखला चलती आने से ज्ञान भी हर समय पर की ओर झुकता हुआ ही (एकत्व करता हुआ) उत्पन्न होता है; ऐसा परिणमन भी अभेद आत्मा का होने से वह आत्मा ही मिथ्यात्वी बना रहता है। अर्थात् वह संसारमार्गी बना रहकर परिणमता रहता है, इसप्रकार का पुरुषार्थ ही विपरीत पुरुषार्थ है।

संक्षेप में कहो तो सिद्धस्वभावी ज्ञायकरूप अपने को मानना (श्रद्धा करना) तो सम्यक् पुरुषार्थ है तथा पर ज्ञेयरूप अपने आपको मानना (श्रद्धा करना) ही मिथ्या अर्थात् विपरीत पुरुषार्थ है।

निमित्त का योगदान कैसे ?

जिनवाणी में विकार जो आत्मा में होता है, उसको भावकर्म के नाम से सम्बोधन किया है। कार्य की सम्पन्नता अर्थात् विकार की उत्पत्ति में निमित्त नाम का समवाय जो परद्रव्य की पर्याय है उसका भी उतना ही महत्त्व है जितना उपादान कारण का। कारण पाँच समवायों की सम्पन्नता ही कार्य की नियामक है। यह विश्व की अकृत व्यवस्था है। इसप्रकार निमित्त परद्रव्य होते हुये भी उसकी भी अनिवार्यता है।

प्रश्न–निमित्त तो परद्रव्य है, उसकी विद्यमानता की अनिवार्यता किस प्रकार है ?

उत्तर – इस विषय को थोड़ा विस्तार करके समझना पड़ेगा। यह तो ध्रुव सत्य है कि निमित्त तो परद्रव्य ही होता है और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में किञ्चित् मात्र भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता। ऐसा अटल सिद्धान्त होने पर भी निमित्त नाम के समवाय

की विद्यमानता की कार्य सम्पन्नता में अनिवार्यता होती है, यह भी अटल सिद्धान्त है। यह समझकर ही चर्चा को समझना चाहिये।

आत्मा तो अनन्तगुणों का समुदाय अखंड-अभेद-पिण्डरूप एक द्रव्य है; ऐसे अभेद-अखण्ड द्रव्य के अभेद परिणमन को पर्याय कहते हैं। ऐसे द्रव्य की पर्याय में अनन्तगुणों का परिणमन अभेदरूप से रहता है। इसीकारण एक समयवर्ती विकार को मात्र गुण को नहीं आत्मा का विकार माना जाता है, लेकिन आत्मा को निर्विकारी करने के लिये, अनन्त गुणों में से भेद करके कुछ ही गुणों को छाँट लिया जाता है; क्योंकि उनकी शुद्धि होने से आत्मा निर्विकारी हो जाता है। इसी अपेक्षा को लेकर आचार्यों ने श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तीनों की शुद्धता को मोक्षमार्ग कहा है। हमारा प्रकरण अभी मात्र मिथ्या श्रद्धा का अभाव करके श्रद्धा को सम्यक् करने का है, अत: अभी चारित्र की शुद्धि पर चर्चा नहीं करेंगे। इसलिये श्रद्धागुण एवं ज्ञानगुण के कार्यों को मुख्य लेकर चर्चा करेंगे। क्योंकि मिथ्यात्व का उत्पादन एवं श्रृंखला का कारण, श्रद्धा गुण की विपरीतता ही है; इसमें ज्ञान का योगदान किस प्रकार है, यह समझना है।

श्रद्धा गुण का स्वभाव एवं कार्य अन्य गुणों (ज्ञान गुण सहित) से विलक्षण प्रकार का है। श्रद्धा का कार्य है, अपनेपने की मान्यता करना अर्थात् अपना अस्तित्व उस रूप मानना। ज्ञान का विशुद्धकार्य है, अपने में स्थित स्वसंबंधी ज्ञेयाकार एवं परसंबंधी ज्ञेयाकारों को बिना कोई भेद करे, स्व को स्व के रूप में एवं पर को पर के रूप में मात्र जानना।

श्रद्धा अर्थात् मान्यता का काल लम्बा होता है अर्थात् जिसको एकबार स्व मान लिया तो अपनी श्रद्धा बदलने में उसको असंख्य समय लगते हैं; तबतक उस मान्यता की श्रृंखला चलती रहती है और श्रद्धा के कार्य में तारतम्यता नहीं पड़ती अर्थात् थोड़ा स्व भी मानें और थोड़ा पर भी मानें, ऐसा नहीं होता। जिसको अपना मान लिया। उसमें अपनेपने के मान्यता ही तबतक चलती रहती है जबतक श्रद्धा अपनी मान्यता बदल नहीं लेती। अत: ऐसी मान्यता बनी रहने का काल समय-समय बदलते हुए भी लम्बा रहता है।

इससे ज्ञान का कार्य अलग प्रकार से होता है। वह तो स्व एवं पर दोनों को एक साथ जानता है; लेकिन अज्ञानी का ज्ञान क्षायोपशमिक होने से वह दोनों में से उपयोगात्मक एक को ही जान पाता है। उपयोगात्मक विषय का ज्ञान होता हुआ अनुभव में आता है, बाकी विषय सहजरूप से गौण रह जाते हैं। इसप्रकार ज्ञान के प्रतिसमय विषय परिवर्तन होते रहने पर भी, उन विषयों में से स्व के रूप में उन्हीं को जानता है, जिनको श्रद्धा ने स्व के रूप में मान रखा है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान में स्थित स्वसंबंधी ज्ञेयाकार एवं परसंबंधी ज्ञेयाकारों में सब का परिवर्तन अर्थात् ज्ञेय परिवर्तन तो प्रति समय होता ही रहता है; लेकिन ज्ञान की स्व को जानने वाली चक्षु, मात्र उन्हीं को स्व के रूप में जानेगी, जिनको श्रद्धा ने स्व मान रखा हो; अन्य सहज रूप से उपेक्षित रह जावेंगे। आत्मा में रहे हुए अन्य गुण भी श्रद्धा का अनुकरण करते हैं। फलत: उपरोक्त प्रकार से जो कार्य प्रगट हुआ और अनुभव में आया, वह पूरे आत्मद्रव्य का ही कार्य माना जाता है और अनुभव में भी ऐसा ही आता है।

उपरोक्त समस्त चर्चा का निष्कर्ष यह है कि विकार की श्रृंखला चलाने का उत्तरदायी तो मात्र अकेला श्रद्धागुण है; लेकिन ज्ञान के द्वारा वह कार्य प्रकाश में आता है, इसलिये उसको उत्तरदायी कह दिया जाता है, लेकिन ऐसा कथन मात्र व्यवहार से किया गया कथन है। वास्तव में दोष तो श्रद्धा का है, फिर भी उपचार करके समझाने के लिये ऐसा कहा जाता है। इसप्रकार अनादि से पर को स्व मानने रूपी मिथ्या मान्यता की श्रृंखला चलती चली आ रही है।

कार्यसम्पन्नता में निमित्त की अनिवार्यता कैसे ?

प्रश्न – इसमें निमित्त नाम के समवाय का योगदान किस प्रकार है; कार्य की सम्पन्नता में जिसके होने की अनिवार्यता कही है ?

उत्तर – उपरोक्त प्रकार की श्रृंखला अज्ञानी को अनादि से चलती चली आ रही है अर्थात् श्रद्धा, अनादि से पर को स्व मानती चली आ रही है, इसी कारण अन्य गुणों के परिणमन भी विपरीत परिणम रहे हैं। फलस्वरूप ज्ञान का भी विपरीत परिणमन हो रहा है अर्थात् उसको स्व को स्व के रूप जानने के विपरीत, पर को स्व के रूप में जानता हुआ चला आ रहा है। तात्पर्य यह है कि उसका ज्ञान भी पर-सत्तावलम्बी रहता हुआ श्रृंखलाबद्ध चला आ रहा है।

उपरोक्त प्रकार ज्ञान के परिणमन के साथ तत्समय ही श्रद्धा की विपरीतता भी परिणमती है अर्थात् दोनों का अभेद विपरीत परिणमन होता है। श्रद्धा जिस ज्ञेय के प्रति, स्वपने की मान्यता सहित आकर्षित होती है; मुख्य रूप से ज्ञान उसी की ओर उपयोगात्मक झुक जाता है। फलतः उसी का ज्ञान एवं अनुभव होता हुआ ज्ञात होता है। इसप्रकार अस्ति अपेक्षा अर्थात् उपादान कारण की अपेक्षा, मिथ्यात्व के उत्पादन

की एवं श्रृंखला चलने की कहानी है। लेकिन उपरोक्त श्रृंखला निमित्त नाम के समवाय की सापेक्षतापूर्वक ही चलती है; उसके बिना भी नहीं चलती। ऐसा विश्वव्यवस्था एवं वस्तु व्यवस्था का अनिवार्य नियम है। अत: अब निमित्त की सापेक्षता एवं अनिवार्यता के संबंध में चर्चा करेंगे।

ज्ञान का स्वभाव ही स्व-पर प्रकाशक है। आत्मा के अनन्तगुणों में ज्ञान के अतिरिक्त कोई भी ऐसा गुण नहीं है, जो स्व एवं पर को जान सके। ज्ञान को भी जानने का विषय तो होना चाहिये ? इसप्रकार ज्ञान के उसी विषय को ज्ञेय कहते हैं। ज्ञान जीव (आत्मा) का लक्षण है, अत: कोई भी समय ऐसा नहीं हो सकता, जिस समय ज्ञान का जानने का कार्य रुक जावे; अर्थात् अनवरत रूप से ज्ञान जानता ही रहता है। अज्ञानी के ज्ञान के प्रति समय के परिणमन मैं कोई न कोई ज्ञेय बनना भी अनिवार्य है (यहाँ उपयोगात्मक ज्ञेय बनने से तात्पर्य है।)

इस प्रकार अज्ञानी का ज्ञान, जिस ज्ञेय को भी जानता है, अपनेपन की मान्यता सहित जानता है। इसप्रकार से ज्ञान के उपयोगात्मक परिणमन में, मिथ्या श्रद्धा आदि के परिणमन भी रहते हैं। फलत: जिसको जानता है स्व के रूप में ही जानता है। ऐसे जानने में जो ज्ञेय बनते हैं, उनको ही विकार में निमित्त कहा जाता है और वही निमित्त नाम का समवाय है। अगर निमित्त को अनिवार्य न माना जावे तो अज्ञानी को परज्ञेय ही ज्ञान में नहीं आवेगा तो श्रद्धा किस को स्व मानेगी ? फलस्वरूप विकार (मिथ्यात्व) की उत्पत्ति ही नहीं होगी, ऐसी स्थिति में संसारमार्ग और मोक्षमार्ग सब का अभाव हो जावेगा, लेकिन यह तो प्रत्यक्ष ही असंभव है। इसप्रकार निमित्त नाम के समवाय का अस्तित्व एवं अनिवार्यता स्पष्टत: सिद्ध होती है।

निमित्त अनिवार्य होने पर भी योगदान का अभाव

प्रश्न – उपरोक्त चर्चा से तो ऐसा लगता है कि कार्य की सम्पन्नता में निमित्त नाम के समवाय का कुछ भी योगदान नहीं होता?

उत्तर – अज्ञानी के ज्ञान में निमित्त तो परद्रव्य ही होता है, वह आत्मा, के कार्य में हस्तक्षेप कैसे कर सकेगा ? नहीं कर सकता। फिर भी वह ज्ञान में ज्ञेय तो बनेगा ही। ज्ञान में ज्ञात होते ही श्रद्धा उसी को स्व मान लेती है। इसप्रकार परज्ञेय को श्रद्धा ने स्व मान लिया। फलत: मिथ्या श्रद्धा उत्पन्न कराने में कारणपने का उपचार तो जिसको स्व माना है, उसी में किया जा सकेगा। अत: कार्य की सम्पन्नता में निमित्त का यही योगदान है और इसी कार्य के लिये उसकी अनिवार्यता भी है। यही निमित्त का उपकार अर्थात् योगदान है।

प्रश्न – इससे तो विकार उत्पन्न होने में निमित्त का योगदान कुछ भी नहीं लगता ?

उत्तर – वास्तव में स्थिति तो ऐसी ही है। निमित्त पर्याय में हस्तक्षेप करता तो अज्ञानी को योगदान लगता; लेकिन ऐसा तो संभव हो नहीं सकता। क्योंकि किसी द्रव्य की पर्याय में अन्य द्रव्य अथवा उसकी पर्याय का तो अत्यन्ताभाव है। इसलिये कार्य की सम्पन्नता में निमित्त का हस्तक्षेपरूपी योगदान तो होता नहीं; और विकाररूपी कार्य की उत्पत्ति निमित्त हुए बिना भी नहीं होती। ऐसा सम्बन्ध भी अविना-भावी है। क्योंकि अगर परज्ञेय नहीं माना जाता तो श्रद्धा अपनापना भी किस में करती? फलत: विकार भी उत्पन्न नहीं होता ? तात्पर्य यह है कि विकाररूपी कार्य की उत्पत्ति तो उपादानरूपी आत्मा में ही हुई

है; लेकिन निमित्त नहीं माना जावे तो उपादान मैं विकाररूपी कार्य भी नहीं होगा और निमित्त विकार का उत्पादन करने लगे तो उपादान रूपी आत्मा का ही लोप हो जावेगा। क्योंकि पर्याय बिना का द्रव्य रहता नहीं। **निष्कर्ष यह है कि उपादान के कार्य में निमित्त कुछ हस्तक्षेप करता नहीं, फिर भी निमित्त के बिना कार्य होता नहीं। ऐसी अकृत वस्तु व्यवस्था है।**

दूसरी अपेक्षा से भी समझा जावे तो, आत्मा ने मिथ्या मान्यता तो अपनी भूल से अपने में की है। जाननेवाला ही विपरीत समझकर, विपरीत निर्णय कर विपरीत मान भी सकता है। ये काम जानने वाला कैसे कर सकता है ?

निमित्त से कार्य होने का कथन क्यों ?

प्रश्न – उपरोक्त स्थिति होते हुए भी, लोक में यही कहा जाता है कि, अमुक प्रकार का निमित्त आया तो यह कार्य हुआ। जैसे अमुक ने गाली दी तो मुझे क्रोध आया आदि-आदि। और अनुभव में भी ऐसा ही आता है कि क्रोध की उत्पत्ति का कारण गाली है ऐसा क्यों?

उत्तर – उपादान का कार्य तो अमूर्तिक आत्मा में होता है और निमित्त तो पर होता है। आत्मा का कार्य अमूर्तिक होने से अज्ञानी को ज्ञानगम्य नहीं होता, उसकी तो मात्र प्रतीति ही की जा सकती है। लेकिन निमित्त तो पर होने से मूर्तिक आदि स्थूल होता है, वह ज्ञानगम्य होने से, वही कार्य का कर्ता दिखता है। अज्ञानी की मान्यता विपरीत होने से ज्ञान भी विपरीत जानता है। फलतः उसको निमित्त ही कार्य का कर्ता दिखता है। वास्तव में तो कार्य का कर्ता उपादान ही है। ऐसे अज्ञानियों को समझाने

के लिये ज्ञानी भी अज्ञानी की भाषा का प्रयोग करते हैं। लेकिन ज्ञानी की मान्यता सम्यक् होने से वह तो कार्य का कर्ता (अपराधी) आत्मा को अर्थात् उपादान को ही मानता है। निमित्त को किञ्चित् भी दोषी नहीं मानता। **विकार का कर्ता अपने को मानने से, ज्ञानी सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा विकृतियों का अभाव करके पूर्ण शुद्धि प्रगट कर लेता है। अज्ञानी इसके विपरीत विकार का कर्ता निमित्त को मानने के कारण, अपने को पराधीन मानकर, पुरुषार्थ हीन रहकर विकारों को बढ़ाता रहता है। अज्ञानी का ज्ञान श्रद्धान विपरीत होने से वह स्थूल बर्हिदृष्टि होकर ही कार्य करता रहता है।**

विकार में निमित्त कौन व कैसे ?

प्रश्न – आत्मा के विकार में निमित्त कौन होते हैं और उनकी निमित्तता किसप्रकार है ?

उत्तर – निमित्त होने के लिये कोई पदार्थ निश्चित नहीं होते और हो भी नहीं सकते; कारण प्रत्येक पदार्थ (द्रव्य) का कार्यरूप परिणमन तो प्रतिसमयहोता है और पदार्थ तो अनन्तानन्त हैं। इसप्रकार सभी के उपादानरूपी परिणमन, दूसरे द्रव्य के एक सरीखे परिणमन में निमित्त कहलाते हैं। **निमित्त वह कहलाता है, जो कार्य के अनुकूल परिणमता हो और नैमित्तिक अर्थात् सम्पादित कार्य वह कहलाता है, जिसका परिणमन निमित्त के अनुरूप हो। इन दोनों में अनुकूलता, अनुरूपता अनिवार्य होती है।** ऐसे सहजरूप से सम्पन्न होनेवाले निमित्त-नैमित्तिक संबंधों का बनना अनिवार्य है, ऐसा तो अविनाभावी संबंध है। लेकिन अमुक कार्य में अमुक पदार्थ अथवा उसकी अमुक पर्याय ही निमित्त हो ऐसा निश्चित नहीं होता।

इसीलिये इसप्रकार के सम्बम्ध को उपचरित सम्बन्ध माना गया है एवं जिनवाणी में बताया गया है। जैसे ध्वजा के लहराने में हवा निमित्त होती है, समुद्र की लहर में हवा निमित्त है, हवा में उड़ते हुए बघूले को, एकाएक कहीं गिर जाने को हवा का रुकना निमित्त होता है। इसीप्रकार वर्षा होने पर, जिस किसान की फसल को पानी की आवश्यकता है, वह तो बहुत प्रसन्न होता है, उसको वर्षा प्रसन्नता का निमित्त हो गई और जिसके खेत का अनाज पककर, कट कर खलिहान में आ गया हो, वही वर्षा उसको अप्रसन्नता का निमित्त हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि जिस द्रव्य की पर्याय में कार्य सम्पन्न होता है, निमित्त तो उससे भिन्न, अन्य द्रव्य ही होता है; कार्य के सम्पादन में उसका हस्तक्षेप नहीं होने पर भी; कार्य के अनुकूल परिणमन करते हुए उसकी उपस्थिति अनिवार्य होती है। इसलिये ही पाँच समवायों में उसको निमित्त संज्ञा प्राप्त है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बम्ध की अनिवार्यता होते हुए भी यह सम्बम्ध उपचरित है अर्थात् जिस अन्य द्रव्य की पर्याय, कार्य के अनुकूल परिणमती हो, उसी पर उस कार्य का निमित्तपना उपचार से माना जाता है। इसीकारण जिनवाणी में निमित्त-नैमित्तिक सम्बम्ध को उपचरित ऐसा व्यवहार संबंध कहा है।

हमारा विषय एवं प्रश्नकार का प्रश्न भी आत्मा के विकार की उत्पत्ति में निमित्त-नैमित्तिक सम्बम्ध किसप्रकार होता है यह समझना है।

अत: हमारा चर्चित विषय, आत्मा में मिथ्यात्वरूपी विकार का होना और उसमें निमित्त कौन व कैसे होता है, यह है। मिथ्या मान्यता ही मिथ्यात्व है अर्थात् अपने सिद्ध स्वभावी ज्ञायक-अकर्ता-ध्रुव को स्व नहीं मानकर, उसके अतिरिक्त अन्य किसी को भी अपना

मान लेना, वही मिथ्या मान्यता है। आत्मा की चार समवाय युक्त श्रद्धा गुण की पर्याय में यह कार्य उत्पन्न हुआ। तत्समय ही ज्ञान की पर्याय ने अपने ज्ञायक को स्व नहीं जानकर पर को स्व जाना। इसप्रकार पर को जानना वह निमित्त हुआ। यह विपरीत कार्य आत्मा की पर्याय में उत्पन्न हुआ। अनन्तगुणों के साथ उपरोक्त दोनों गुणों की विपरीतता का परिणमन अभेद होकर एक पर्याय के रूप में हुआ, इसलिये यह आत्मा का कार्य कहलाया। अभेदपर्याय में ज्ञान भी परलक्ष्यी होकर कार्य करने लग गया। श्रद्धा का जिस पदार्थ (विषय) की ओर 'मैंपना' श्रृंखलाबद्ध चलता आ रहा होगा, स्वभावत: उस ओर ही ज्ञान आकर्षित, झुकता हुआ उत्पन्न होगा। ऐसी स्थिति में उपयोगात्मक ज्ञान भी उसी का होता हुआ ज्ञात होगा; और प्राप्त क्षयोपशम के अन्य विषय गौण एवं उपेक्षित रह जावेंगे। इसप्रकार की विपरीत मान्यता के कारण उपयोगात्मक ज्ञान का अज्ञानी को जो विषय बना अज्ञानी उसमें ही अपनेपने की मान्यता कर लेता है। यह हुआ समग्ररूप से पाँच समवाययुक्त कार्य की सम्पन्नता। इस कार्य में निमित्त कारण वह है, जिसको श्रद्धा ने स्व माना है।

इसप्रकार चार समवाययुक्त उपादान कारण एवं निमित्त समवाय नामक निमित्त कारण, इन दोनों कारणों की समग्रता का काल (समय) एक ही होता है अर्थात् सबकी समकालप्रत्यासति होती है। मिथ्यात्व नामक विकार की उत्पत्ति रूप कार्य, निमित्त कारण की सापेक्षता पूर्वक आत्मा में एक ही होता है। इसमें अन्य द्रव्य की पर्याय जिसको निमित्त कारण की संज्ञा प्राप्त हुई है, उसका परिणमन भी उसके स्वयं के पाँच समवाययुक्त हुआ है; उसके इसप्रकार के परिणमन में आत्मा अन्य द्रव्य है। अत: आत्मा का मिथ्यात्व रूप परिणमन, उसके परिणमन के लिये निमित्त कारण हो जाता है।

इसप्रकार दोनों के स्वतंत्र परिणमन हैं। किसी भी द्रव्य ने अन्य द्रव्य का निमित्त बनने के लिये परिणमन नहीं किया है। फिर भी दोनों कारणों की समग्रतापूर्वक ही कार्य की उत्पत्ति होती है। ऐसी ही वस्तु एवं विश्व की व्यवस्था है तथा यही जिनवाणी कहती है। आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने भी स्वयंभूस्तोत्र में सुपार्श्वनाथ भगवान की स्तुति करते हुए गाथा ३३ में इसप्रकार कहा है –

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृत कार्य लिंगा।
अनीस्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्यकार्योश्विनि साध्यवादी ॥३३॥

अर्थ – आपने (जिनदेव ने) यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वय (उपादान-निमित्त) से उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है, क्योंकि संसारी प्राणी 'मैं इस कार्य को कर सकता हूँ' इसप्रकार के अहंकार से पीड़ित है वह उस कार्य को करने में समर्थ नहीं होता।'

पाँचों समवायों की समग्रता पूर्वक ही कार्य सम्पन्न होता है, यह आचार्यश्री ने उपरोक्त श्लोक में स्पष्ट कर दिया है। श्लोक में नित्य उपादान जीव है, भवितव्यता में काललब्धि तथा नियति का समावेश हो जाता है, कार्य के होने में पुरुषार्थ अन्तर्गभित है और हेतुद्वय में समर्थ उपादान कारण के साथ निमित्त भी आ गया। इसप्रकार पाँच समवाय पूर्वक कार्य की उत्पत्ति होने का आगम का सिद्धान्त है।

इस विषय पर विस्तार से अध्ययन करना हो तो सिद्धान्त शास्त्री पण्डित फूलचन्द्रजी द्वारा लिखी गई ''जैनतत्त्व मीमांसा'' नामक रचना में पृष्ठ १०१ से पृष्ठ १४३ तक का अध्ययन करें। उसमें अनेक ग्रन्थों प्रमाणों द्वारा इस विषय पर विवेचन किया है।

शुभभाव एवं वीतरागी सुख की पहिचान

अनन्तानुबंधी शब्द का वाच्यार्थ है, अनन्त के साथ अनुबंध करना अर्थात् अपनेपने की मान्यता रूप अनुबंध (एग्रीमेंट-प्रतिज्ञा) करना। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्वी जीव अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को भूलकर, अपने से भिन्न विश्व को (परज्ञेय मात्र को) अपना मानता है; उसी के साथ वर्तनेवाली अनन्तानुबंधी, जो कि चारित्रमोह का विकार है, उन सब (परज्ञेय मात्र) के साथ अपनेपने का अनुबंध कर लेता है अर्थात् प्रगाढता से अपनेपने का सम्बन्ध बाँध लेता है। मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी साथ-साथ रहते हैं, लगभग दोनों का उदय एवं बंध भी साथ ही होता है तथा नाश भी दोनों का एक साथ ही होता है। **इसप्रकार अनन्तानुबंधी कषाय परज्ञेय मात्र से अपनेपन का संबंध प्रगाढ़ता से जोड़ लेती है। यह है अनन्तानुबंधी का कार्य एवं यही है उसके उदय (प्रगटता) को पहिचानने का लक्षण।**

अनन्तानुबंधी के उदय में होनेवाली आकुलता को पहिचानने के लिये एक ही द्रष्टान्त पर्याप्त है कि अपने पुत्र के वियोग में होनेवाली आकुलता एवं अपने मित्र के पुत्र के मरण से होनेवाली आकुलता का अन्तर, जो भी अनुभव में आता हो; वैसा ही अन्तर अनन्तानुबंधी के उदय में होनेवाली आकुलता एवं उसके अभावात्मक दशा में होनेवाली आकुलता का अन्तर होता है। यही है उसके अभावात्मक होनेवाली शांति (सुख) की पहिचान।

उपरोक्त प्रकार के अपनेपने की मान्यता की प्रगाढ़ता उग्रतम् होती है तो वह अनन्तानुबंधी की कृष्ण लेश्या है। और वह तीव्र अशुभभाव होने से तीव्र पाप का बंध करती है। तारतम्यतानुसार प्रगाढता

की कमी से होनेवाले भावों को पहिचानने के लिये नील एवं कापोत लेश्या होती है – ये तीनों लेश्याएँ घटते हुए अशुभ भाव होने से घटती आकुलता की तारतम्यानुसार पापबंध की कारण ही होती हैं। इसलिये इनको अशुभ लेश्याओं के नाम से कहा गया है। **कर्मों की १४८ प्रकृतियों में लेश्या के भावों में निमित्तरूप होनेवाली कोई अलग प्रकृति नहीं होती, ये तो उपरोक्त भावों की तारतम्यता को पहिचान करने के लिये किया गया वर्गीकरण है।**

इसीप्रकार मिथ्यादृष्टि को अनन्तानुबंधी के उदय में पर के साथ अपनेपन की मान्यता की प्रगाढ़ता होते हुए भी, तारतम्यतानुसार होनेवाले मंद आकुलता के कारण होने वाले शुभ भावों की पीत, पद्म, शुक्ल लेश्या के नाम से पहिचान होती है। इन तीनों लेश्याओं के भावों को शुभभाव कहा गया है तदनुसार इनसे पुण्य बंध होता है। इसलिये इन तीनों को शुभ लेश्या कहा जाता है। इन तीनों में आकुलता व अशुभ भाव मंद से मंदतर एवं शुभभाव उग्र से उग्रतम होते जाते हैं।

ज्ञानी को वर्तनेवाली अप्रत्याख्यानादि कषायों की उग्रता व मंदता का माप भी लेश्याओं के द्वारा ही किया जाता है। गुणस्थानानुसार वर्तने का वर्णन करणानुयोग से जानना।

मिथ्यात्व के साथ में अनन्तानुबंधी का उदय रहना फलत: अपने आत्मस्वरूप को छोड़कर, अन्य परज्ञेयों में अपनापन प्रगाढ़ता के साथ करना तथा तत्सम्बन्धी आकुलता होना तो अनिवार्य है। इस स्थिति में वीतरागता का तो अंशमात्र भी उत्पाद होना संभव नहीं है। वीतरागता तो स्व में अपनापन उत्पन्न होकर, परज्ञेयमात्र से निरपेक्ष बुद्धि जाग्रत हुए बिना नहीं होती एवं अनाकुलता रूप शांति के अंश का प्रारम्भ भी नहीं होता। लेकिन ऐसे अज्ञानी को भी, लेश्या संबंधी

मंद कषाय के शुभभाव तो हो ही सकते हैं। जैसे नववें ग्रैवेयक में जानेवाले मिथ्यात्वी मुनिराज को अनन्तानुबंधी का सद्भाव वर्तते हुए भी शुक्ल लेश्या के शुभभाव (कषाय की मंदता के भाव) तो होते ही हैं। इससे विपरीत ज्ञानी क्षायिक सम्यग्दृष्टि भरत चक्रवर्ती को अनन्तानुबंधी का अभाव वर्तते हुए भी बाहुबली पर चक्र चलाते समय कृष्ण लेश्या के अशुभ परिणाम वर्तते थे। फिर भी मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी के अभावात्मक वीतरागता एवं आंशिक अनाकुल शांति भी वर्तती थी।

इसप्रकार स्पष्ट है कि चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी का अभाव होकर ध्रुवज्ञायक में अपनापन आते ही वीतरागता का जन्म हो जाता है। आगे के गुणस्थानों में मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी का अभाव हो जाने पर भी, स्व में स्थिरता (लीनता-रमणता) तारतम्यतानुसार पर्याप्त नहीं होती; फलतः परज्ञेयों में आसक्तिभावरूप आकर्षण के साथ तारतम्यानुसार आकुलता भी बनी रहती है। जैसे-जैसे क्रमशः आत्मस्थिरता बढ़ती जाती है, तदनुसार अप्रत्याख्यान (अचारित्रपने के भाव) का अभाव पंचम गुणस्थान में होकर वीतरागता तो बढ़ जाती है, फिर भी पाँचों लेश्याओं के भाव अर्थात् शुभ-अशुभ भाव तो होते हैं; लेकिन कृष्ण लेश्या के अशुभ भाव नहीं होते।

इसीप्रकार आगे के गुणस्थानों में जैसे-जैसे आत्मस्थिरता के साथ वीतरागता बढ़ती जाती है। तदनुसार अशुभ लेश्याओं का भी अभाव होकर, अन्त में दशवें गुणस्थान में तो मंदतम शुक्ल लेश्या रह जाती है और बारहवें गुणस्थान में तो उसका भी अभाव होकर, परम वीतराग भाव के साथ अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो जाता है।

वीतरागता की उत्पत्ति एवं वृद्धि के साथ तो अशुभ

लेश्याओं के भावों में अपेक्षाकृत क्रमशः कमी होते जाना अनिवार्य है (व्याप्ति है); लेकिन लेश्या संबंधी भावों के अनुसार, वीतराग भाव होने की अनिवार्यता नहीं होती और न उन शुभ भावों के साथ वीतरागता की व्याप्ति भी है। अर्थात् शुभ लेश्या के भाव मंद भी हो जावें, फिर भी वीतरागता का प्रारम्भ नहीं हो और वीतरागता हो जाने पर अशुभ लेश्या के भाव हो भी जावें तो भी भूमिकानुसार वीतरागता को हानि नहीं होती। लेकिन वीतरागता प्रारम्भ हो जावे और उस भूमिका (गुणस्थान) को खण्डित करनेवाले अशुभ लेश्या के भाव बने रहें, ऐसा भी कभी नहीं हो सकता। जैसे अवृत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान वाले जीव को अनन्तानुबंधी के अभावात्मक वीतरागता प्रगट हो जाने पर, संकल्पी हिंसा के भावों के अभाव के साथ मद्य, मांस, मधु तथा छह प्रकार के उदम्बर फल (जिनमें त्रसजीव चलते हों ऐसे फल) खाने के अशुभभाव एवं सात व्यसन के अशुभ कार्यों को व्यसन रूप से सेवन करने जैसी गृद्धता के अशुभभाव उत्पन्न ही नहीं हो सकते। वीतराग भावों के साथ इसप्रकार के अशुभभाव (अशुभ लेश्या के भाव) नहीं हो सकते – ऐसी भी व्याप्ति है।

भावों के बिना क्रिया कभी होती नहीं, ऐसा तो सभी को अनुभव है। वीतरागता की उत्पत्ति भावों में होती है और उपरोक्त क्रियाओं के साथ होनेवाले अशुभभावों का अभाव भी भावों में ही होता है। इसलिये ऐसे भावों का निषेध चरणानुयोग में किया गया है। लेकिन इससे विपरीत यह देखा जाता है और अनुभव भी है कि क्रिया के नहीं होने पर भी उपरोक्त प्रकार के अशुभ भाव तो उठते रहते हैं और उनसे पापबंध भी होता रहता है। निष्कर्ष यह है कि क्रियाओं के होने पर भी जिसके अन्दर में उक्त प्रकार के अशुभ भाव उठते हों, उस जीव को तो यह स्पष्ट है कि अभी

वीतरागता प्रगट नहीं हुई है। इसप्रकार आत्मार्थी सहजरूप से उठनेवाले स्वयं के भावों से अपने में वीतरागता का उत्पाद हुआ है या नहीं – यह सुगमता से पहिचान सकता है।

इसप्रकार आत्मार्थी, मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी के सद्भाव में अनुभव में आती हुई आकुलता रूपी अशांति को पहिचान कर, और ज्ञायकध्रुवतत्त्व में अपनापन स्थापन करे तथा अनन्तानुबंधी के अभावात्मक वीतरागता के द्वारा उत्पन्न हुई आत्मीक शांति (अनाकुलता-रूपी शांति) को पहचाने। ऐसा होने पर ही स्पष्ट रूप से दोनों का अन्तर अनुभव में आ सकेगा। **अशुभ लेश्याओं की कमी से अथवा शुभ लेश्याओं की वृद्धि से उत्पन्न होनेवाली क्षणिक शांति किसी प्रकार भी वीतरागता से उत्पन्न होनेवाली अनाकुलतारूपी शांति का परिचायक नहीं है और न हो ही सकती है,** कारण दोनों की जाति ही एक दूसरे से विपरीत है। शुभ लेश्याओं में होनेवाली शांति की जाति ही रागमिश्रित मंद आकुलता होती है और वीतरागता रूपी शांति तो आकुलता के अभावात्मक अनाकुल शांति है। इतना अवश्य है कि गुणस्थानानुसार ही उसकी उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है।

उपरोक्त कथन जानकर समझकर दोनों का अन्तर पहिचानकर कषाय की मंदता (लेश्या संबंधी मंदता) से होनेवाली इन्द्रियजन्य क्षणिक शांति को मोक्षमार्ग मानना छोड़कर वास्तविक वीतरागता रूपी अतीन्द्रिय अनाकुल शांति प्रगट करना ही आत्मार्थी का कर्तव्य है।

श्रृंखला तोड़ने का उपाय भेद-विज्ञान

इसप्रकार अज्ञानी अनादि से श्रृंखलाबद्ध पर में अपनापन मानता चला आ रहा है, फलतः ज्ञान भी परसत्तावलम्बी होकर परिणम रहा

है। वह ज्ञान जिसको ज्ञेय बनाता है अर्थात् जानता है, उसको स्व के रूप में जानता है और श्रद्धा उस रूप ही अपना अस्तित्व मान लेती है। इसप्रकार की श्रृंखला अनादि से चली आ रही है और फिर श्रद्धा एवं ज्ञान श्रृंखलाबद्ध उसी को स्व जानते-मानते रहते हैं। जबतक सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा इस श्रृंखला को तोड़कर, सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न कर, श्रद्धा के साथ ज्ञान की सम्यक् श्रृंखला प्रारम्भ नहीं होगी, तबतक मिथ्यात्व की श्रृंखला चलती ही रहेगी; संसार का अभाव नहीं होगा। इस विषय पर समयसार की आत्मख्याति टीका के बंध अधिकार के कलश १६४ में कहते हैं –

अर्थ – ''कर्मबन्ध को करनेवाला कारण, न तो वह कर्म योग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है, न चलन स्वरूप कर्म (अर्थात् मन-वचन-काय की क्रिया रूप योग) है, न अनेक प्रकार के (करण) हैं और न चेतन-अचेतन का घात है। **किन्तु 'उपयोगभू' (उपयोगरूपी भूमि में) अर्थात् आत्मा रागादि के साथ जो ऐक्य (एकत्व-अपनापन) को प्राप्त होता है, वही एकमात्र (रागादि के साथ एकत्व करना वही) वास्तव में पुरुषों के बन्ध का कारण है॥१६४॥**

इसके अतिरिक्त गाथा ३४४ की टीका में आचार्यश्री ने इसी विषय को और भी विशेष स्पष्ट करते हुए, मिथ्यात्व के अभाव करने का उपाय बताया है। टीका इसप्रकार है –

''इसलिये ज्ञायकभाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी कर्म से उत्पन्न होते हुए **मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेद-विज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञान परिणाम को**

करता है [अज्ञान (मिथ्यात्व) रूप जो ज्ञान का (आत्मा का) परिणमन उसको करता है] इसलिये उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना [अर्थात् ऐसा स्वीकार करना कि वह (आत्मा) कथंचित् कर्ता है] वह भी तबतक कि जबतक भेद-विज्ञान के प्रारम्भ से ज्ञेय और ज्ञान के भेद-विज्ञान से पूर्ण (अर्थात् भेद-विज्ञान सहित) होने के कारण आत्मा को ही आत्मा (स्व) के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव), विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ही ज्ञान परिणाम से परिणमित होता हुआ [ज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का (आत्मा का) परिणमन उस रूप ही परिणमित होता हुआ] मात्र ज्ञायकत्व के कारण साक्षात् अकर्ता हो।''

उपरोक्त टीका से स्पष्ट है कि **''मैं ज्ञायक तो अकर्ता ही हूँ ज्ञेय मेरे से भिन्न और पर हैं'', ऐसा भेदज्ञान नहीं होने के कारण ही मिथ्याश्रद्धा की श्रृंखला चलती आ रही है एवं चलती रहेगी; इसलिये इसको स्वीकार करके इसके नाश (अभाव) करने के लिये, भेद-विज्ञान अर्थात् ''सिद्धस्वभावी ज्ञायक अकर्ता ध्रुव रहनेवाला तो मैं हूँ और इसी को स्व के रूप में जानते रहने का मेरा स्वभाव है''; ऐसी अहंपने की श्रद्धा के विषय के अतिरिक्त जो भी रह गये, वे सब पर ज्ञेय होने से मैं तो उनका सिद्ध भगवान के समान अकर्ता ज्ञायक हूँ; ऐसी दृढ़ श्रद्धा के द्वारा भेदज्ञान का प्रारम्भ होता है,** फिर निर्विकल्प आत्मानुभूति प्राप्त कर सम्यक् भेद-विज्ञान का प्रारम्भ होता है। इसी के फलस्वरूप क्रमशः बढ़ते-बढ़ते यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है – ऐसा महा कल्याणकारी मार्ग आचार्यश्री ने उपरोक्त टीका द्वारा बता दिया है। इसी का अनुसरण कर जीवन्मुक्त हो जाना चाहिये।

नयों के प्रयोग द्वारा परज्ञेयों से भेदज्ञान

प्रश्न – ऐसे परज्ञेय कौन हैं, जिनसे अपनेपन का आकर्षण तोड़ने से भेदज्ञान की सिद्धि हो सकती है ?

उत्तर – सामान्यतया तो सिद्धस्वभावी ज्ञायक अकर्ता ध्रुव के अतिरिक्त जो भी ज्ञात हों, वे सब परज्ञेय हैं। स्वज्ञेय तो मात्र एक ध्रुव स्वभाव ही है और यह ही परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है। इसके अतिरिक्त, आत्मा में त्रिकाल शुद्ध रहने वाले आत्मा के गुण अथवा शुद्धपर्याय भी स्वज्ञेय नहीं हैं, वे भी सब परज्ञेय की श्रेणी में ही हैं। उपरोक्त वास्तविक स्थिति होते हुए भी, अव्युत्पन्न सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृटि जीव को ज्ञानी बनाने की कल्याणकारी भावना से आचार्य भगवन्तों ने उपरोक्त स्थिति तक पहुँचाने के लिये भेदज्ञान की प्रणाली को भेद-प्रभेद करके भी समझाया है।

एक ज्ञायक ध्रुव के अतिरिक्त, परज्ञेय में, आत्मा में रहनेवाले गुणभेद एवं शुद्ध-अशुद्ध पर्याय भेदों से लगाकर समस्त विश्व के अनन्तानन्त पदार्थ सम्मिलित हैं। **परज्ञेय होते हुए भी उनको दो श्रेणियों में विभाजित किया है। एक तो आत्मा के प्रदेशों में ही रहने वाले अनन्तगुण एवं उनकी विकारी निर्विकारी पर्यायें, इन सबको सद्भूतज्ञेय कहा है,** उन्हें सद्भूत व्यवहारनय के विषय कहकर समझाया है।

इसी प्रकार **जो ज्ञेय ऐसे हैं कि जिन सबके अपने-अपने प्रदेश हैं और जिनका आत्मा के प्रदेशों में प्रवेश नहीं हैं ऐसे ज्ञेयों का आत्मा में सद्भाव नहीं होने से उन्हें असद्भूत ज्ञेय कहा है,** उनको असद्भूत व्यवहारनय के विषय कहकर समझाया है।

इनको भी विशेष स्पष्ट एवं सरल करने के लिए **उपरोक्त सद्भूत एवं असद्भूत ज्ञेयों को भी दो-दो के युगलों में बाँटकर के समझाया है। जैसे सद्भूत अनुपचार एवं सद्भूत उपचार। इसीप्रकार असद्भूत उपचार एवं असद्भूत अनुपचार। इसप्रकार समस्त ज्ञेय समूह को चार भागों में विभक्त करके विषय को सरल बना दिया है।**

उपरोक्त सद्भूत एवं असद्भूत दोनों के साथ उपचार शब्द का प्रयोग हुआ है; पहले उसे समझना चाहिये। **उपचार का सामान्य अर्थ होता है कि उस वस्तु में नहीं होनेवाली अन्य वस्तु-अन्य गुणों अथवा पर्याय को, उस वस्तु का बताना वह उपचार है।** जैसे मेरे पिताजी के फोटो (चित्र) में पिताजी नहीं होते हुए भी उनको पिताजी कहना, यह पिताजी के फोटो में पिताजी का उपचार करके किया गया कथन हुआ। जैसे वर्तमान भव में ही आत्मा से अलग रहने वाले असद्भूत ऐसे स्त्री-पुत्र-मित्रादि सचेतन परिकर एवं मकान-जायदाद-रुपया-पैसा आदि अचेतन परिकर तो प्रदेश भिन्नता के साथ-साथ स्थूलबुद्धि से भी आत्मा के नहीं दिखते; उन सबको भी आत्मा के कहना, **यह स्थूल उपचार का कथन है।** लेकिन अपना शरीर जो साधारणतया आत्मा से भिन्न नहीं होता; लेकिन उसके भी प्रदेश भिन्न होने से वह भी आत्मा का नहीं है, इसलिये असद्भूत तो है ही , फिर भी उसको आत्मा का कहना, **असद्भूत होने पर भी अनुपचार है।**

असद्भूत अनुपचार ! का दूसरा प्रकार है, जो उपरोक्त प्रकार का उपचार नहीं होने पर भी, **जिनके प्रदेश तो भिन्न हैं। फिर भी वर्तमान में आत्मा से भिन्न नहीं हो सकते, उनको भी आत्मा के कहना वह अनुपचार कथन है।** जैसे आत्मा के प्रदेशों से भिन्न होने पर भी द्रव्यकर्म जो सश्लेष रूप से आत्मा के प्रदेशों से बंधे हैं, जो

मुक्ति होने के पूर्व आत्मा का साथ नहीं छोड़ते; उनको आत्मा के कहना भी असद्भूत अनुपचार का कथन है।

इसीप्रकार सद्भूतनय के विषय में उपचार, अनुपचार को भी समझना है। आत्मा के प्रदेशों में रहनेवाली विकारी आदि अशुद्धपर्यायें विद्यमान होने पर भी अन्त में उनकी अशुद्धता का अभाव हो जाता है। फिर भी आत्मा को विकारी अथवा अशुद्ध कहना, यह सद्भूत उपचार का कथन है। तथा **आत्मा में निर्मल पर्यायें एवं अनन्त गुण भी विद्यमान हैं और वे आत्मा से भिन्न कभी नहीं हो सकते। उन गुण अथवा पर्यायवाला आत्मा को कहना यह अभेद में भी भेद करके कहा गया, अनुपचार कथन है।**

उपरोक्त प्रकार से असद्भुत एवं सद्भूत दोनों के विषयों को उपचार, अनुपचार किस कारण कहा जाता है। इस पर चर्चा हुई। लेकिन **इन चारों को व्यवहार क्यों लगाया जाता है; वह समझना है।**

व्यवहार की परिभाषा आलाप पद्धतिकार ने इसप्रकार कही है – **''भेद-उपचरितया वस्तु व्यवह्रयति इति व्यवहार:''**

तात्पर्यार्थ – **भेद और उपचार जो अभेद वस्तु में विद्यमान तो हैं, ऐसे वस्तु का ज्ञान कराना-समझाना-कथन करना, वह ही व्यवहार है। इसप्रकार उपरोक्त चारों भेदों के साथ व्यवहार का लगाना अवश्यम्भावी है; क्योंकि आत्मवस्तु तो भेद और उपचार आदि सबसे रहित सत्ता मात्र है।** ऐसी वस्तु को समझाने के लिये ही तो उपरोक्त सब भेद किये गये हैं। इसप्रकार समग्र वस्तु को समझाने के लिये ही ज्ञेयवस्तु अर्थात् परज्ञेयों को चार भागों में बाँटकर सबके साथ व्यवहार लगाना उपयुक्त एवं आवश्यक है।

नयज्ञान मोक्षमार्ग के लिये उपयोगी कैसे ?

प्रश्न – उपरोक्त चारों भेद समझने के लिए तो नयज्ञान उपयोगी हैं लेकिन सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये उपयोगी कैसे है ?

उत्तर – जिनवाणी में स्थान उन्हीं कथनों को मिलता है, जो मोक्षमार्ग में उपयोगी हों। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये, **सर्वोपरि आवश्यक यह है कि ''अपने सिद्धस्वभावी ध्रुव भाव में अपनापना स्थापित हो जावे।''** ध्रुवस्वभाव से विपरीत मेरेपने की श्रद्धा अनादिकाल से समस्त ज्ञेयों में चलती चली आ रही है। फलस्वरूप ज्ञान भी उनकी ओर ही आकर्षित होता चला आ रहा है। इस स्थिति में श्रृंखला को तोड़कर, ध्रुव स्वभाव की ओर परिवर्तित करना है। इसके लिये परज्ञेयों में मेरेपने का आकर्षण तोड़कर, ध्रुव की ओर आकर्षित करना ही एकमात्र उपाय है। तब ही सम्यग्दर्शन प्रगट करने की पात्रता उत्पन्न होगी।

इसका उपाय मात्र एक ही है, कि सर्व प्रथम अपने ध्रुवभाव का स्वरूप भेद-प्रभेदकर, भलीभांति समझकर, निर्णयकर, विश्वास में लाकर, उसमें इतना आकर्षण उत्पन्न हो जावे कि वह हर परिस्थिति में ऊर्ध्व बना रहे। अर्थात् ''मैं तो ध्रुव सिद्ध हूँ, स्व-पर का ज्ञायक रहते हुए भी पर का अकर्ता-अनाकुल स्वभावी हूँ'– ऐसी श्रद्धा जाग्रत हो जाने पर आकर्षण का विषय अपना ध्रुव हो जावेगा; और वही सदैव ऊर्ध्व बना रहेगा। इसप्रकार की श्रद्धा रहने पर भी, परज्ञेय ज्ञान में ज्ञात हुए बिना नहीं रहेंगे और ज्ञान भी उनकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकेगा; क्योंकि चारित्र की कमी के कारण, ज्ञान स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता। लेकिन परपने की श्रद्धा के बल से वे गौण (उपेक्षित) रहते हुए ज्ञान को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकेंगे।

जब परज्ञेय ज्ञात होते हैं तो चार भागों में विभाजित ज्ञेयों को ज्ञान भिन्न-भिन्न रूप से जानता है। इसप्रकार के जाननेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। श्रद्धा की ऊर्ध्वता वर्तने के कारण ज्ञानी को तो सहज उपरोक्त ज्ञान वर्तता रहता है लेकिन सम्यक्त्व सन्मुख जीव को तो प्रयत्नपूर्वक इसप्रकार का पुरुषार्थ करना पड़ता है।

इसप्रकार परज्ञेयों के जाननेवाले ज्ञान को भी निम्न चार नामों से कहा गया है।

असद्भूत उपचरित व्यवहारनय असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय
सद्भूत उपचरित व्यवहारनय सद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय

इसप्रकार समस्त ज्ञेय समूह को चारं भागों में विभाजित कर, उनकी अनित्यता, असारता तथा सबके स्वतंत्र परिणमन आदि स्वरूपों को समझकर उनके प्रति अपनेपन का आकर्षण जिसप्रकार भी समाप्त हो सके उसी प्रकार परपने का निर्णय करना तथा विश्वास जाग्रतकर श्रद्धा उत्पन्न करना; यही समस्त चर्चा का सार है। और इसकी यही मोक्षमार्ग में उपयोगिता है।

उपरोक्त निर्णय करने के लिये तथा ज्ञेयों से आकर्षण एवं अभेद में भेदबुद्धि समाप्त करने के लिये किये गये कथनों से समस्त जिनवाणी भरी हुई है और सुखी होने के उपाय के लगभग सभी भागों में अलग-अलग अपेक्षाओं से इसी की चर्चा हो चुकी हैं; **ध्यान रखने योग्य है कि उक्त प्रकार के नास्ति की मुख्यतापूर्वक किये गये कथनों की सार्थकता तभी संभव है, जबकि ज्ञायक-अकर्ता-सिद्धस्वभावी-ध्रुव की ऊर्ध्वता सदैव वर्तती रहेगी; अन्यथा मात्र शुभभावरूप चिन्तन होकर रह जावेगा, स्वरूप प्राप्ति नहीं होगी।**

पञ्चाध्यायी के नयों के सम्बन्ध में

प्रश्न – पञ्चाध्यायी में तो इन नयों का अन्य प्रकार से वर्णन आया है, वह कैसे है ?

उत्तर – उपरोक्त कथन भी सत्यार्थ है, मात्र अपेक्षा भेद है। उद्देश्य दोनों कथनों का एक ही है।

पञ्चाध्यायीकार ने जो उपयोग-ग्राह्य हों उनको तो उपचरित एवं जो पर्याय में विद्यमान होते हुए भी उपयोग की पकड़ में नहीं आते हों उनको अनुपचार माना है। और जिनके प्रदेश ही आत्मा से भिन्न हैं, उनको आत्मा का कहना, स्थूल लगने से उसको उनने नयाभास की संज्ञा दी है ऐसा ज्ञात होता है। डॉ. हुकमचंद भारिल्ल ने इस विषय का विशद विवेचन परम भाव प्रकाशक नयचक्र के पृष्ठ १५२ से १६७ में किया है; वहाँ से जान लेवें। तद्नुसार वे चार नय निम्नप्रकार हैं–

''आत्मा की पर्याय में जो राग है, वह मूल सत्रूप वस्तु में नहीं है इसलिये असद्भूत है, भेद किया इसलिये व्यवहार और ज्ञान में स्थूल रूप से जाना जाता है इसलिये उपचरित है। इसप्रकार राग को आत्मा का कहना उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

जो सूक्ष्म राग का अंश वर्तमान ज्ञान में नहीं जाना जाता, ज्ञान की पकड़ में नहीं आता, वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है। उस आत्मा का ज्ञान राग को जानता है, पर को जानता है – ऐसा कहने से वह ज्ञान स्वयं का होने से सद्भूत, त्रिकाली में भेद किया इसलिये व्यवहार और ज्ञान स्वयं का होने पर भी पर को जानता है – ऐसा कहना वह उपचार है। इसप्रकार 'राग का ज्ञान' – ऐसा कहना (अर्थात् ज्ञान राग को जानता है – ऐसा

कहना) उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है।

'ज्ञान वह आत्मा, ऐसा भेद करके कथन करना अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। 'ज्ञान वह आतमा' – यह कहने से भेद पड़ा वह व्यवहार, किन्तु वह भेद आत्मा को बताता है, इसलिये वह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है।''

इसप्रकार पञ्चाध्यायी में बताये नयों में और अन्य ग्रंथों में बताये नयों के उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही पद्धतियों का उद्देश्य एक ही है कि त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव में अपनापन (मेरापन) स्थापन कराकर, समस्त पर ज्ञेयों विशेषकर विकारी निर्विकारी पर्यायों एवं अभेद में भेद करने के विकल्पों में परपने की श्रद्धा कराकर उनसे भिन्नता का ज्ञान कराकर, आकर्षण तुड़ाकर एक मात्र ध्रुव ही शरणभूत रह जावे, – ऐसी श्रद्धा कराने का ही दोनों का उद्देश्य है।

इसप्रकार जिसप्रकार भी संभव हो, वह अपनाकर उपरोक्त उद्देश्य को प्राप्त करना चाहिए। यही एकमात्र सारभूत है।

चारों प्रकार के ज्ञेयों का दो में संक्षेपीकरण

भेदज्ञान के पुरुषार्थ के लिये उपरोक्त चारों प्रकार के ज्ञेयों का और भी संक्षेपीकरण करें तो वे दो भागों में बाँटे जा सकते हैं।

एक इन्द्री से लगाकर पाँच इन्द्रिय तक के चारों गतियों के सभी अज्ञानी जीवों की शरीर में एकत्वबुद्धि अर्थात् अपनापन होता है। फलस्वरूप पुण्य-पाप के उदयानुसार प्राप्त होने वाले शरीर से सम्बन्ध रखने वाले सचेतन परिकर (स्त्री-पुत्रादि परिजन) एवं अचेतन परिकर (रहने का स्थान आदि तथा अन्नादि शरीर रक्षण के साधन भूतपदार्थ)

सब में सहजरूप से बिना कोई प्रयास के अपनापन (एकत्वबुद्धि) हुये बिना नहीं रहती। जैसे कीड़ी (चींटी) को अपने बिल में अनाज इकट्ठा करने की।

तात्पर्य यह है कि अपने शरीर के प्रति अपनेपन का आकर्षण समाप्त होने से, अन्य परिकरों से भी अपनापन छूट जाता है; क्योंकि वे सब शरीर के ही निमित्त हैं। इसप्रकार इस वर्गीकरण में सभी असद्भूत उपचरित व्यवहारनय के विषयों का समावेश हो जाता है। प्रवचनसार में इस अपेक्षा से असमानजातीयद्रव्यपर्याय में अपनेपन की मुख्यता पूर्वक विवेचन किया है – ऐसा ज्ञात होता है। **ध्यान रहे कि उग्ररुचि के साथ जब तक सिद्धस्वभावी अपने ध्रुव के प्रति आकर्षण उत्पन्न होकर, अपने ध्रुव स्वभाव की ऊर्ध्वता परिणति में खड़ी नहीं रहेगी, तब तक कोई भी भेदज्ञान की प्रणाली सफल नहीं हो सकती;** मात्र विकल्प होकर ही रह जावेंगे। प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी।

इसीप्रकार आत्मा के प्रदेशों में उत्पन्न होनेवाले भावकर्म (विकृत पर्यायें) हैं, वे सब सद्भूत उपचरित व्यवहारनय के विषय हैं। इन भावकर्मों के उत्पन्न होने के काल में ही, तत्संबंधी द्रव्यकर्मों का उदय होता है और भावकर्मों के अनुसार ही उन द्रव्य कर्मों के अनुभागों का उदय होता है; उन दोनों का आपस में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। द्रव्यकर्म असद्भूत व्यवहारनय के विषय हैं। **ऐसी स्थिति में आत्मा उग्ररुचिपूर्वक अपने ज्ञायक ध्रुव भाव का आश्रय लेकर अर्थात् अपनापन उत्पन्न कर, जब ध्रुव स्वभाव की ऊर्ध्वता पूर्वक यथार्थ भेदज्ञान प्रणाली के द्वारा, भावकर्मों की श्रृंखला को तोड़ दे, तब सहजरूप से (बिना कोई प्रकार का अन्य पुरुषार्थ करे) भावकर्मों के निमित्तभूत**

द्रव्यकर्मों की श्रृंखला भी टूट जाती है। कारण आत्मा के ज्ञान की पकड़ में (उपयोग में) तो मात्र भावकर्म ही आते हैं, द्रव्यकर्म तो नहीं आते। और भेदज्ञान भी उन ही से हो सकता है जो ज्ञान में ज्ञात होंगे।

इसप्रकार एक ही पुरुषार्थ से, दोनों से भेदज्ञान हो जाता है। दोनों के स्वतंत्र परिणमन मानकर उनके परिणमनों के प्रति निर्भार होकर आत्मा मध्यस्थ और उदासीन हो जाता है। इसप्रकार सद्भूत उपचरित व्यवहारनय के विषय से भेदज्ञान होने से, सहजरूप से सद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय के विषयों से भी भेदज्ञान हो जाता है। ध्यान रहे सब पद्धतियों में ध्रुव स्वभाव की ऊर्ध्वता सर्वोपरि एवं मुख्य है।

अब मात्र एक सद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय के विषय बाकी रह जाते हैं। वास्तव में विचारा जावे तो इस नय के विषयों का अभेदरूप सेआत्मा में अस्तित्व तो है; लेकिन अज्ञानी ने भेदबुद्धि के द्वारा अपनी मान्यता में भेद खड़े कर लिये हैं। आत्मा वही होने पर भी ज्ञानी को भेद बुद्धि खड़ी नहीं होती। वास्तव में विचारा जावे तो उपरोक्त तीनों नयों में समावेश होने के बाद जो कुछ भी रह जाते हैं, **वे सद्भूत अनुपचरित नय के विषय रह जाते हैं। लेकिन जिस आत्मार्थी ने उग्ररुचि के साथ अपने अभेद-अखण्ड ऐसे सिद्ध स्वभावी ध्रुवतत्त्व का स्वरूप, समझकर, नि:शंक निर्णय एवं विश्वास कर, श्रद्धा जाग्रत की है और उसको ध्रुव प्रत्येक पर्याय में ऊर्ध्व खड़ा रहता है; ऐसे आत्मार्थी को सहजरूप से स्वत: (अन्य प्रकार के पुरुषार्थ के बिना) निर्मल पर्यायों एवं गुण भेदों का विकल्प ही पलायमान हो जाता है।**

अभेद-अखण्ड-सिद्ध स्वभावी-ज्ञायक ध्रुव स्वभाव की श्रद्धा (विश्वास) की ऊर्ध्वता सदैव खड़ी रहने से सहज ही उपरोक्त चारों

नय के विषयों से भेदज्ञान का प्रारम्भ हो जाता है और सम्यग्दर्शन उत्पत्ति की पात्रता बन जाती है। यही महान उपलब्धि है उपरोक्त पद्धति अपनाने की। समयसार ग्रन्थाधिराज में उपचरित एवं अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय के विषयों से भेदज्ञान की मुख्यता पूर्वक विस्तार से विवेचन है और उसका भी विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण पूज्य श्रीकानजीस्वामी के प्रवचनरत्नाकर ग्रन्थ के भागों में है, वहाँ से जानना चाहिये और अध्ययन करना चाहिये।

ज्ञानी-अज्ञानी सभी को नयज्ञान उपयोगी

ध्यान रहे उपरोक्त प्रकार के नय तो ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) के ही होते हैं; क्योंकि नयों का जन्म ही अनुभव काल में सम्यग्ज्ञान में होता है। इसलिये रुचि की उग्रता बनी रहने से, ज्ञानी को तो प्रत्येक परिणमन के समय अपना त्रिकाली ज्ञायक ऊर्ध्व वर्तता रहता है; फलतः सहजरूप से भेदज्ञान भी वर्तता रहता है। उससे संवरपूर्वक निर्जरा भी होती रहती है और क्रमशः चारित्र (स्वरूप स्थिरता) बढ़ती रहती है। इसी को नास्ति अपेक्षा परज्ञेयों के प्रति मेरेपने का आकर्षण का अभाव होना कहा जाता है। यही अनंतानुबंधी के साथ रहने वाले आकर्षण का अभाव है जो कि ज्ञानी होते ही हो जाता है, फिर भी अपनेपन रहित, मात्र आसक्ति का आकर्षण ज्ञानी को भी रह जाता है, वह भी क्रमशः क्षीण होते रहता है।

नयों के विषय तो अपरिवर्तित ही रहते हैं। वे तो द्रव्यों के परिणमन हैं, उनमें सम्यक्पना-मिथ्यापना होता नहीं। लेकिन उन विषयों को जानने वाले ज्ञान में सम्यक्पने और मिथ्यापने का भेद पड़ता है। इसलिये सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यात्वी भी ज्ञानी बनने के लिये, नयों के विषयों से आकर्षण तोड़ने के लिये, उक्त नयों का प्रयोग सम्यक् नयों के नाम से ही करता है, अन्य कोई उपाय नहीं

है। **लेकिन उसकी श्रद्धा (मान्यता) स्पष्ट होती है कि मेरा यह पुरुषार्थ ज्ञानी को वर्तनेवाला संवर के कारण रूप पुरुषार्थ नहीं है; यह तो नयों के विषयों के स्वरूप को समझ कर, उनसे मेरेपन का आकर्षण तोड़ने का अभ्यास मात्र ही है।** स्वरूप की ऊर्ध्वता रखते हुए रुचि सहित यह अभ्यास क्रम चालू रखूंगा तो इसके अभ्यास के फलस्वरूप, वास्तविक भेदज्ञान होकर मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी की क्षीणता क्रमशः हो जावेगी। इसप्रकार नयों व इनके विषयों के स्वरूप को समझने का ऐसा लाभ अज्ञानी को भी होता है।

इसप्रकार ज्ञायक ध्रुव स्वभाव को ऊर्ध्व रखकर भेदज्ञान का अभ्यास ज्ञानी-अज्ञानी सबको महान कल्याण देने वाला है। आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार के कलशों में सम्यक् भेदज्ञान की अपार महिमा की है।

''भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्न धारया।
तावद्यावत् पराच्युत्वाज्ञानंज्ञानेप्रतिष्ठिते ॥१३०॥

अर्थ – यह भेद-विज्ञान अविछिन्न धारा से (जिसमें विच्छेद न पड़े ऐसे अखण्ड धारा प्रवाह से) तबतक भाना चाहिये, जबतक (ज्ञान) परभावों से छूटकर ज्ञान ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) स्थिर न हो जाये॥१३०॥

''भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।
अस्यैवाभावतोबद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

अर्थ – जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेद-विज्ञान से सिद्ध हुये हैं और जो कोई बंधे हैं, वे उसी के (भेद-विज्ञान के ही) अभाव से बंधे हैं॥१३१॥

इसप्रकार आत्मार्थी को उपरोक्त यथार्थ भेदज्ञान द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

उपसंहार

इस पुस्तक का नाम है, ''सिद्ध स्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता।'' इसका तात्पर्य यह है कि आत्मार्थी का ध्येय तो सिद्ध बनने का होता है। लेकिन अनुभव तो पर्याय का होता है; इसलिये स्पष्ट है कि वर्तमान पर्याय में सिद्धपने का अभाव है। यह भी विश्वास है कि पर्याय में ही सिद्धपना प्रगट होगा। आत्मा सत्तावान पदार्थ एक है। 'उत्पाद-व्यय-ध्रोव्ययुक्तंसत्' के अनुसार उसका अस्तित्व भी अभेद एक है। ऐसी अभेद आत्मा की पर्याय में तो सिद्धत्व है नहीं; फिर भी सिद्धत्व तो आत्मा में ही होना चाहिये। अगर आत्मा में सिद्धपने का अस्तित्व ही नहीं हो तो पर्याय में प्रगट कहाँ से हो जावेगा ? इस विश्वास के साथ आत्मार्थी अपने में खोज करता है, तो एकमात्र ध्रुव ही ऐसा स्थान प्राप्त होता है, जहाँ अनन्तकाल से मेरा सिद्धपना सुरक्षित विद्यमान है। आवश्यकता इतनी ही है कि उस सुरक्षित सिद्धपने को पर्याय में भी प्रगट कर लिया जावे।

इसके लिये सर्वोपरि आवश्यकता है कि यह विश्वास जाग्रत हो कि सिद्धपना तो मेरे ध्रुव में ही है अर्थात् मैं स्वयं ही सिद्ध स्वभावी ध्रुव हूँ। पर्याय में प्राप्त की प्राप्ति करनी है; अप्राप्त को प्राप्त करने में तो कठिनता हो सकती है, लेकिन प्राप्त स्वभाव को प्रगट करना असम्भव कैसे हो सकता है। इत्यादि विचार कर गुरु सान्निध्य द्वारा उपदेश सुनता है, जिनवाणी का अध्ययन एवं सत्-समागम करता है और अन्तर में ही खोज करता है। रुचिपूर्वक किये गये ऐसे प्रयत्नों से तथा वास्तविकता पूर्वक समझने से अन्तरंग में उत्साह जाग्रत होकर रुचि की उग्रता होती है। तत्पश्चात् चिंतन-मनन द्वारा निःशंक निर्णय होता है। उसके

फलस्वरूप श्रद्धा जाग्रत होती है। इसप्रकार की श्रद्धा जाग्रत होना ही महान उपलब्धि है। रुचि की उग्रता एवं श्रद्धा का पृष्ठबल होने से, अपने ध्रुव स्वभाव में विद्यमान सिद्धपना प्रत्येक परिणमन (पर्याय) में ऊर्ध्व बना रहता है; अर्थात् अपनी परिणति प्रतिसमय के परिणमन (पर्याय) में ध्रुव की ओर आकर्षित बनी रहती है। फलस्वरूप निर्विकल्प अनुभव होकर क्रमशः पर्याय के विकार आदि भी क्षीण होने लगते हैं। अन्ततः पूर्ण शुद्धि होकर यह आत्मा ही स्वयं सिद्ध परमात्मा बन जाता है। आत्मा का सत् तो अभेद एक ही है, इसलिये प्रत्येक परिणमन में ध्रुव विद्यमान रहता है। इसप्रकार आत्मार्थी की ऐसी श्रद्धा वास्तविक है, सत्यार्थ है तथा आगमोक्त है।

इतना अवश्य है कि ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) को तो निर्विकल्प आत्मानुभूति के समय उपरोक्त प्रकार की श्रद्धा प्रगट हो जाती है, और वह ज्ञानी बने रहने तक हर परिणमन में सहज वर्तती रहती है। अर्थात् उसे स्मरण नहीं करना पड़ता, विकल्प नहीं करने पड़ते, वरन् सहजरूप से ध्रुव में अपनापन जाग्रत रहता है। पर्याय आदि परज्ञेयों के प्रति परायापन होने से उनसे निरपेक्ष बना रहता है। लेकिन सम्यक्त्व सन्मुख आत्मार्थी को तो अनुभव होने तक सहज वर्तनेवाली दशा प्रगट नहीं होती; इसलिये उसको तो रुचि का पृष्ठबल बनाये रखकर, ध्रुव में अपनेपन की ऊर्ध्वता जाग्रत रखनी पड़ती है। इसके लिये एकांत में चिंतन-मनन एवं ध्रुवस्वभाव की विशेषताओं के द्वारा ध्रुव के प्रति आकर्षण बढ़ाने का प्रयत्न करना पड़ता है।

रुचि की उग्रता पूर्वक किये गये प्रयत्नों में संलग्न आत्मार्थी के ज्ञान में परज्ञेय रहते हुए भी तथा उनमें उपयोग उलझते रहने पर भी

उनके प्रति तुच्छता–हेयबुद्धि वर्तती रहने से, आत्मार्थी को वे इसप्रकार आकर्षित नहीं कर पाते; जिससे वह ध्येय से च्युत हो जावे। **आत्मार्थी प्रयत्नपूर्वक इसप्रकार की रुचि एवं श्रद्धा जाग्रत रखने का प्रयत्न करता है कि मैं तो सिद्ध स्वभावी स्वयं हूँ, जिसप्रकार भगवान स्व-परप्रकाशक ज्ञान के द्वारा अपने ज्ञायक को तो स्वपने मानते-जानते हुए उसमें लीन रहते हैं और उससे उत्पन्न अनाकुल आनन्द में तन्मय रहते हैं; ऐसी तन्मयता सहित वर्तते हुए उनका ज्ञान परज्ञेयों को भी तन्मयता रहित जानता है। फलतः परज्ञेयों का ज्ञान आकर्षण रहित वर्तता रहता है, अनाकुल आनन्द से उनको किञ्चित् भी विचलित नहीं करता।**

ऐसी स्थिति भगवान की सादि अनन्तकाल वर्तती रहती है। ऐसे सिद्ध स्वभाव की मैंने अपने ध्रुव में स्थापना की है; मेरा भी वैसे ही परिणमन करने का स्वभाव है, फिर परज्ञेय मुझे क्यों आकर्षित कर सकते हैं। आत्मार्थी स्वभाव की ऊर्ध्वतापूर्वक परज्ञेयों को स्वतंत्र सत्तावान पदार्थ के रूप में देखता है, वे भी मेरे समान ही 'उत्पाद-ध्रोव्य-युक्तंसत्' हैं। वे सब अपनी-अपनी योग्यतानुसार क्रमबद्ध परिणम रहे हैं, उनको मेरे परिणमन से किसी प्रकार की अपेक्षा ही नहीं है, इसलिये उनकी ओर से मैं भी निरपेक्ष वर्तता हूँ। फिर भी उनके कोई परिणमन मुझे अनुकूल दिखने लगते हैं, कोई प्रतिकूल दिखने लगते हैं; सो यह मेरी स्वरूप स्थिरता की निर्बलता का द्योतक है; क्योंकि मैं तो सिद्ध स्वभावी हूँ, मुझे तो कोई संयोग होता ही नहीं, इसलिये वे न अनुकूल हो सकते हैं, न प्रतिकूल।

संयोगों का सम्बन्ध तो शरीर के साथ है, उसके अनुकूल अथवा प्रतिकूल संयोगों का मिलना पुण्य अथवा पाप के उदय के निमित्त से

होता है। लेकिन जब मैंने मेरा अस्तित्व ही सिद्ध स्वभावी माना है तो शरीर तो मैं हूँ ही नहीं; ऐसी स्थिति में परज्ञेय मुझे मेरेपने आकर्षित कैसे कर सकते हैं, नहीं कर सकते; मैं तो उनका सिद्ध के समान मात्र तन्मयता रहित ज्ञायक (साक्षी) हूँ।

इसप्रकार की श्रद्धा एवं विश्वास वर्तते रहने पर भी मेरा ज्ञान उनकी ओर आकर्षित हो जाता है; ऐसा आकर्षण भी, ध्रुव स्वभाव की ओर के आकर्षण की कमी के कारण है। रुचि की उग्रता एवं विश्वास के साथ उस कमी की पूर्ति करने का मैं संकल्प करता हूँ। इसप्रकार आत्मार्थी परज्ञेयों से आकर्षण तोड़ने के लिये जबतक आत्मानुभूति नहीं हो तबतक रुचिपूर्वक इसप्रकार की श्रद्धा-विश्वास बढ़ाता रहता है। फलस्वरूप स्व के आकर्षण की उग्रता के साथ, पर की ओर से ज्ञान व्यावृत्त होकर जब स्व में एकाग्र होता है, उसी समय ज्ञान निर्विकल्प होकर आत्मानुभूति प्रगट कर लेता है।

ध्यान रहे उपरोक्त प्रकार की श्रद्धा (विश्वास) न तो यथार्थ रुचि रहित शास्त्रों के अध्ययन से होती है और न श्रवण से ही होती है। जैसे ११ अंग ९ पूर्व का अभ्यासी भी मिथ्यादृष्टि रह जाता है। इसीप्रकार रुचिरहित सूक्ष्मातिसूक्ष्म चर्चा-वार्ता अथवा प्रभावक भाषणों आदि से भी प्राप्त नहीं होती, ये सब तो परसत्तावलम्बी ज्ञान से होनेवाली क्रियाएँ हैं। स्व के आकर्षणरहित ध्यान लगाकर घंटों विकल्प विचार करने से अथवा उपयोग को बाहर की ओर से हटाकर स्व की ओर ले जाने के प्रयत्नों से भी श्रद्धा का जन्म नहीं होता। ये सब तो मिथ्यात्व सहित मनजन्य राग है। इसी प्रकार शरीर की अनेक प्रकार की क्रियाओं से भी श्रद्धा का जन्म नहीं होगा। वे सब तो परद्रव्य की क्रियाएँ हैं; क्योंकि श्रद्धा का जन्म तो प्रतीति से

होता है जो कि श्रद्धा गुण का कार्य है, दृढ़तम निर्णय के पृष्टबल पूर्वक उत्पन्न होता है।

रुचि-श्रद्धा-विश्वास-प्रतीति तो श्रद्धा गुण की पर्याय हैं, उपरोक्त क्रियाओं से वह कैसे उत्पन्न होगी ? श्रद्धा का जन्म तो आत्मा के अन्तरंग में स्वलक्ष्य पूर्वक स्वसत्तावलम्बी ज्ञान होने पर ही होता है। इसलिये इन क्रियाओं से श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकतीं।

प्रश्न – तो यथार्थ उपाय क्या है ?

उत्तर – वास्तव में श्रद्धा का जन्म तो यथार्थ आत्मरुचि से होता है, आगम का वाक्य है 'रुचिमेव सम्यक्त्वं' अर्थात् रुचि ही सम्यक्त्व है। रुचि श्रद्धागुण की पर्याय की तारतम्यता है, जो बढ़ते-बढ़ते सम्यग्दर्शन रूप परिणम जाती है। ऐसी रुचि का अंकुरारोपण तो विशुद्धिलब्धि में ही निम्न भावों से हो जाता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४६ में बताया है –

''अहो ! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ; परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है; तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिये मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिये, क्योंकि उनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है।''

उपरोक्त प्रकार के विचारों से आत्मार्थी की पात्रता का प्रारम्भ होता है, यहाँ से ही रुचि का (गर्भित शुद्धता का) अंकुरारोपण होता है। फिर इसी रुचि को सत्यार्थ मार्ग के ग्रहण द्वारा रक्षण-पोषण मिलता रहा तो यही अंकुर पल्लवित होकर वृक्ष बनकर सम्यग्दर्शन रूपी फल प्रदान कर देता है। विपरीत

मार्ग ग्रहण करने से अथवा रक्षण-पोषण नहीं मिलने से वह अंकुर नष्ट भी हो जाता है।

अत: रुचि के रक्षण-पोषण हेतु मार्ग प्राप्त करने के उद्देश्य से आत्मार्थी ज्ञानी गुरु का समागम प्राप्त करता है। यथार्थ मार्ग खोजने के लिये उनसे यथार्थ दृष्टि अर्थात् दृष्टिकोण प्राप्त करता है। तदनुसार जिनवाणी का अध्ययन करता है, सत्समागम करता है, चर्चा-वार्ता-चिन्तन-मनन आदि द्वारा यथार्थ मार्ग समझता है तथा समझकर यथार्थ निर्णय कर अपना ध्येय निश्चित करता है। आत्मार्थी का ध्येय तो एक ही होता है कि 'मुझे स्वयं परमात्मा बनना है' ज्ञानी गुरु वही है जिसने परमात्मा बनने की दृष्टि दी हो। समस्त जिनवाणी का केन्द्र बिन्दु भी यही है; इसलिये उनके अध्ययन से भी इसी ध्येय को प्राप्त करने के मार्ग को ग्रहण किया हो तो वे अध्ययन भी सत्यार्थ मार्ग के प्रदाता बनेंगे। ऐसे मार्ग के पोषण एवं वृद्धिंगत करने का समागम हो, वही सत् समागम है। उस मार्ग को प्रोत्साहित करने वाली चर्चा-वार्ता-चिन्तन-मनन आदि से रुचि में उग्रता आती है। और वही रुचि को प्रोत्साहित करते हुए मोक्षमार्ग की ओर प्रेरित करती रहती है। इस प्रक्रिया में रुचि का पृष्ठबल ही मुख्य काम करता है।

उपरोक्त प्रक्रिया के अन्तर्गत वह रुचिपूर्वक भगवान के स्वरूप को उनके सामर्थ्यों की विशेषताओं सहित समझता है। स्वरूप समझने से आत्मार्थी की अरिहंत एवं सिद्ध बनने की रुचि उग्रता को प्राप्त होनी चाहिए। तब समझना चाहिये कि उसने यथार्थ समझा है। भगवान स्व एवं पर समस्त ज्ञेयमात्र के ज्ञायक हैं; उनको जानने को कुछ भी बाकी नहीं रहता। फलत: जानने

की इच्छा के अभाव रूप वर्तते हैं। मोह-रागादि का अभाव हो जाने से किसी की ओर आकर्षित भी नहीं होते, फलत: कुछ प्राप्त करने की इच्छा भी उत्पन्न होने का अवकाश नहीं रहा एवं अपने आप में लीन रहने से किसी को अच्छा-बुरा मानने का अवकाश भी नहीं रहता। उपरोक्त कारणों से आकुलता का उत्पादन ही नहीं होता, फलत: अनाकुल आनन्द में लीन रहते हैं। ऐसा स्वरूप भगवान अरिहंत एवं सिद्ध का है – ऐसा ही स्वरूप मेरा भी है, ऐसा समझकर नि:शंक अकाट्य निर्णय आना चाहिये तथा रुचि में उग्रता आनी चाहिये। यही उनके स्वरूप पहिचानने की यथार्थता का द्योतक है।

उपरोक्त स्वरूप को समझकर, निर्णयकर, इस दृष्टिपूर्वक अपने आत्मद्रव्य को समझना है कि स्वयं मुझे भी भगवान बनना है। अत: अपने आत्मा को द्रव्य-गुण पर्यायों द्वारा विस्तारपूर्वक समझता है। तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मेरी पर्यायें तो अरिहंत की पयायों से विपरीत, मोह (मिथ्यात्वी) राग-द्वेष रूप परिणम रही हैं। इन पर्यायों की शुद्धि होने से ही परमात्मा बना जा सकता है। इसलिये मेरा परमात्मापना तो मेरे ही ध्रुवांश अर्थात् ध्रुव स्वभाव में है और त्रिकाल विद्यमान भी है। ऐसे विश्वास के साथ सम्यक् प्रकार अध्ययन द्वारा अथवा गंभीरतापूर्वक चिन्तन-मनन द्वारा समझकर, दृढ़तापूर्वक-नि:शंक ऐसे अकाट्य निर्णय पर पहुँच जाना चाहिये कि मेरा ध्रुव तो वर्तमान में ही सिद्ध है। ऐसे निर्णय के साथ रुचि बहुत उग्र हो जाती है और दृढ़विश्वास जाग्रत हो जाता है कि मैं अवश्य भगवान बन सकूँगा, ऐसे विश्वास से मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी के निषेक क्षीणता को प्राप्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि परिणति में पात्रता बढ़ जाती है।

उपरोक्त प्रकार से आत्मार्थी सिद्ध स्वभाव को अपने ध्रुव में स्थापन कर लेता है। ध्रुव तो मेरे सत् स्वभाव का ही त्रिकाल अपरिवर्तित

रहने वाला नित्य स्वभावी अंश है। अत: 'मैं तो ध्रुव रहनेवाला सिद्ध हूँ; ऐसा विश्वास जाग्रत होता है, उससे रुचि को और भी प्रोत्साहन मिलता है। इसप्रकार 'अहंपना' 'मेरापना' मेरे ध्रुव स्वभाव में आ जाता है। तथा उपादेयबुद्धि एवं रक्षण-पोषण के भावों का आश्रय भी अपना ध्रुव हो जाता है।

दूसरी ओर ध्रुव के साथ वर्तने वाली पर्यायें भी मेरे ही सत् के अंश हैं, लेकिन वे सब अनित्यस्वभावी, क्षण-क्षण में बदल जाने वाली एवं मोही-रागी-द्वेषी दशा में वर्तती हैं। इसलिये वे सब मेरे लिए हेयकोटि में हैं; अरिहंत बनने के लिये बाधकरूप हैं। इसलिये उनमें मेरेपने की बुद्धि एवं आकर्षण बनाये रखना तो मुझे भगवान बनने के लिये घातक ही बनेगा। द्रव्यकर्मादि तथा नोकर्म शरीरादि तो मेरे से भिन्न प्रदेश वाले अन्य द्रव्य ही हैं, वे तो किसी अपेक्षा भी मेरे हो नहीं सकते; अत: उनमें मेरेपने की बुद्धि तो स्थूल रूप से दिखने वाली मिथ्याबुद्धि है आदि-आदि विचारों द्वारा ध्रुव के अतिरिक्त अन्य ज्ञेयों में अनादि से चली आ रही अपनेपने की बुद्धि का अभाव कर उग्र रुचि वे साथ ध्रुव में अपनत्व बनाये रखने का प्रयत्न करता रहता है।

उपरोक्त प्रकार के निर्णय होने पर भी ज्ञायक ध्रुव तो ज्ञान में ज्ञात होता नहीं, परज्ञेय ही ज्ञात होंगे; छद्मस्थ को निर्विकल्प दशा के पूर्व तो ऐसा ही वर्तता है। ऐसी दशा में व्युत्पन्न आत्मार्थी तथा ज्ञानी विचलित नहीं होता, क्योंकि विश्व का प्रत्येक पदार्थ (उसमें मेरा आत्मा भी सम्मिलित है।) "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" है। उसकी प्रत्येक पर्याय स्वयं अपने समय का स्वतंत्रसत् है। वह अपनी योग्यता से अपने उत्पाद के जन्मक्षण में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार मेरे आत्मा की प्रत्येक पर्याय भी अपने जन्मक्षण में उसकी योग्यतानुसार जिसप्रकार की उसकी योग्यता थी वैसी ही उत्पन्न हुई है। मैं तो उसका भी अकर्ता

हूँ, मेरी ज्ञांन पर्याय जो अपनी तत्समय की योग्यता से उस ज्ञेय के आकार उत्पन्न हुई; उसका भी मैं तो अतन्मयतापूर्वक ज्ञाता हूँ; परज्ञेयों (मेरी पर्याय सहित) के सन्मुख होकर मैं उनका भी ज्ञाता नहीं हूँ। उपचार मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो मेरे ज्ञान का ही ज्ञायक हूँ। मेरी ज्ञान की पर्याय जो ज्ञेयाकार रूप हुई, उसका भी मैं तो कर्ता नहीं, ज्ञान की तत्समयगत योग्यता ही ज्ञेयाकार की कर्ता है। मैं तो सिद्ध भगवान के समान सर्वथा अकर्ता ही हूँ। सिद्ध भगवान जिस प्रकार अतन्मयतापूर्वक परज्ञेयों के ज्ञायक हैं; उसी प्रकार ज्ञेय मात्र से निरपेक्ष वर्तते हुये मैं भी अपनी ज्ञान पर्याय का ही ज्ञायक हूँ। तात्पर्य यह है कि ज्ञेय कैसे भी परिणमते हों, छद्मस्थ होने से मैं तो उनका अज्ञायक रहते हुए, अपने स्वप्रकाशक विषय का ही ज्ञायक हूँ। इसप्रकार के निर्णयों द्वारा, परज्ञेयों का आकर्षण एकदम क्षीणता को प्राप्त होकर ज्ञेयों के परिणमनों से निरपेक्ष रहकर मध्यस्थ होकर, अपने ज्ञान को परमुखापेक्षी नहीं होने देता। ऐसा पुरुषार्थ ही वास्तव में सार्थक नास्ति का पुरुषार्थ है।

उपरोक्त प्रकार के रुचिपूर्वक किये गये निर्णयों के साथ जो इसप्रकार का विश्वास जाग्रत होता है कि मैं तो प्रत्येक पर्यायों में ध्रुव वर्तने वाला सिद्ध हूँ; ऐसा विश्वास (श्रद्धा) परिणति में ध्रुव स्वभाव की ऊर्ध्वता बनाये रखता है। ऐसी ऊर्ध्वता के फलस्वरूप, जो परिणति अनादि से परोन्मुखी होकर ज्ञान परसत्तावलम्बी वर्त रहा था, वह रुचि की उग्रता के पृष्ठबल के अनुसार क्रमशः स्वोन्मुखी होकर आत्मानुभव प्राप्त कर सम्यग्दृष्टि हो जाता है। यही है समीचीन एवं सत्यार्थ उपाय।

इसप्रकार ध्रुव को सदैव अर्थात् प्रत्येक परिणमन में ऊर्ध्व बनाये रखने की उपलब्धि एवं उपायों के सम्बम्ध में इस पुस्तिका में चर्चा की गई है। इसप्रकार का पुरुषार्थ ही अस्ति की मुख्यतापूर्वक किया जाने वाला नास्ति का सार्थक एवं आस्ति का सत्यार्थ पुरुषार्थ है। ऐसी

श्रद्धा विश्वास से ही परिणति एवं उपयोग स्वलक्ष्यी होकर, सहजरूप से निर्विकल्प होकर आत्मानुभूति कर, संसार भ्रमण का अंत कर देता है। यही इस पुस्तिका का सार है।

सभी आत्मार्थी बन्धु सत्यार्थ मार्ग को समझकर अनुसरणकर, रुचि सहित नि:शंक यथार्थ निर्णय कर, सिद्ध स्वभावी ध्रुव की अपने में स्थापना कर, उसको ऊर्ध्व रखते हुए, मेरेपने की अकाट्य श्रद्धा उत्पन्न कर, परज्ञेयों से अपनेपने का आकर्षण तोड़कर, अपने ध्रुव में उनके प्रति निष्पृहता द्वारा मध्यस्थता के साथ ध्रुव में अपनत्व का आकर्षण ऐसा बढ़ावें कि एक मात्र वही शरणभूत लगने लगे। इसप्रकार की अन्तर्दशा के द्वारा सभी आत्मार्थी बन्धु, निर्विकल्प उपयोग द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त करें। इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

लेखक के अन्य प्रकाशन

१. सुखी होने का उपाय भाग–१
२. सुखी होने का उपाय भाग–२
३. सुखी होने का उपाय भाग–३
४. सुखी होने का उपाय भाग–४
५. सुखी होने का उपाय भाग–५
६. सुखी होने का उपाय भाग–६
७. सुखी होने का उपाय भाग–७
८. सुखी होने का उपाय भाग–८
९. व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ
१०. तत्त्वनिर्णय ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है
११. शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति
१२. णमो लोए सव्व साहूणं
१३. वस्तु स्वातन्त्र्य
१४. आत्मसम्बोधनम्
१५. निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व
१६. सिद्धस्वाभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता